सिद्ध योग

संस्थापक संरक्षक एवं सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

अक्टूबर १९७७
वर्ष १० अंक ५

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

प्रकाशक

इस अंक में—

क्रम संख्या	लेख	लेखक	पृष्ठ
१.	नित्यसुखानुभूति	———	१
२.	योगों की सर्वज्ञाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति (हमारा विशेष लेख)	योगयोगेश्वर अनन्त-श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
३.	योग ही दिव्य औषध है	डा० श्री अविरस शर्मा	५
४.	ईश्वर	आचार्य श्री वेदव्रत शास्त्री	१०
५.	परम ज्ञानी सुतीक्ष्ण मुनि का ईश्वर-प्रणिधान	ब्रह्म० श्री धीरेन्द्रस्वरूप	१४
६.	क्रिया योग	श्री गिरीशदेव वर्मा	१७
७.	स्वागतमभिनन्दनम्	आ० श्री चूड़ामणि कौशिक	२३
८.	योगीश्वर याज्ञवल्क्य	डा० श्री विष्णुदत्त शर्मा	२५
९.	नाथ सम्प्रदाय एवं मत्स्येन्द्रनाथ की उत्पत्ति	श्री रा० शरणसिंह	३१
१०.	प्रणत रूप भगवान सदा-शिव	श्री ओमप्रकाश पारीक बी०	३८
११.	श्री गुरु महिमा (कविता)	श्री चन्दनलाल परमार	४८
१२.	मोक्ष का मूल साधन—ब्रह्मचर्य	ब्रह्मचारी श्री दामोदर शर्मा	४९
१३.	पश्यम् पुण्यम् पश्यम् तोषम्	संकलित	४९
१४.	आश्रम समाचार	डायरिस्ट	३
१५.	भावना और बुद्धि	डायरिस्ट	४

संयुक्त सम्पादक
दिल्ली
फोन ५३१६८

वार्षिक मूल्य ३५ रु०, एक प्रति १ ५० पैसे मात्र

सिद्ध योग

वर्ष १०
अंक ७

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्धं स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवरतो, मुक्तिं मान्तोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविधपदान् योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणार्थं भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

अक्टूबर
१९७७

नित्यसुखानुभूति

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत् पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम्।
विमुक्तिसौधाग्रतलाधिरोहणं ताभ्यां विना नान्यतरेण सिध्यति॥
अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढ़प्रबोधः।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूति॥

अर्थात्

हे विद्वन्! वैराग्य और बोध—इन दोनों को पक्षी के दोनों पंखों के समान मोक्षकामी पुरुष के पंख समझो। इन दोनों में से किसी भी एक के बिना केवल एक ही पंख के द्वारा कोई मुक्तिरूपी महल की अटारी पर नहीं चढ़ सकता अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिए वैराग्य और बोध दोनों की ही आवश्यकता है। अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि लाभ होता है, समाधिस्थ पुरुषको ही दृढ बोध होता है तथा सुदृढ़ बोधवान् का ही संसार-बन्धन छूटता है और जो संसार बन्धन से छूट गया है उसी को नित्य नन्द का अनुभव होता है। —विवेक चूड़ामणि

卐

हमारा विशेष लेख—

योगी की सर्वभावाधिष्ठातृत्व

एवं

सर्वज्ञातृत्व शक्ति

* योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने अपने इससे पहले लेख में इन्द्रिय-जय से होने वाली तीन विशेष सिद्धियों का वर्णन किया था। सबसे पहली मनोजविस्व अर्थात् (कायस्यावुत्तमोगतिलाभः) शरीर को उत्तमोत्तम गति प्राप्त होना मनोजविता नाम की सिद्धि है। इस सिद्धि के प्राप्त होने पर योगी का मन जहां-जहां जाता है वहां-वहां उसका शरीर भी पहुँच जाया करता है, इस-लिए इस सिद्धि का नाम मनोजविता है। मनोजविता का अर्थ ही यह है कि जैसी गति मन की है वैसी ही गति योगी के शरीर को प्राप्त हो जाय, अर्थात् जहां योगी का मन जाय, वहीं योगी का शरीर पहुँच जाय, इसी को मनोजविता कहते हैं।

द्वितीय सिद्धि—

इन्द्रियों का विकरणभाव अर्थात् इस समय हमारी इन्द्रियां—आंख, कान, नाक, जिह्वा आदि अपने अधिष्ठानभूत शरीर के गोलकों के द्वारा अपनी शक्ति का प्राकट्य करती हैं और इनकी शक्ति इस समय सीमित है। विकर्ण भाव का अर्थ है, अपने अधिष्ठानभूत शरीर के गोलकों के बिना दूर-दूर का दर्शन, दूर-दूर का सुनना, दूर दूर का स्पर्श कर आदि-आदि काम करने की योग्यता संयम बल से अब इन्द्रियों में पैदा हो जाना, इस का नाम विकर्णभाव है। ये सिद्धि भी इन्द्रिय जय की कठिन साधना के साथ-साथ ही यो को उपलब्ध होती है। इसी प्रकार ज्यों ज योगी का संयम बढ़ता है त्यों-त्यों योगी प्रकृ पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लेता है इसी का नाम प्रधान जयत्व है और इसके साथ-सा ज्यों ज्यों योगी विवेक ख्याति को प्राप्त कर है, त्यों-त्यों उसका प्रकृति पर वशीकार हो चला जाता है तथा इन्द्रियों की वैकर्ण्य सि प्राप्त हो जाने के बाद योगी के मन में पू रूपेण सर्वज्ञातृत्व शक्ति का उदय हो जा करता है, जिसको भगवान् पतञ्जलिदेव

महाराज निम्नाङ्कित सूत्र में स्पष्ट रूप से बतला रहे हैं—

सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।

(विभूति-पाद ४९)

इस सूत्र पर श्री व्यासदेव जी का भाष्य—

निर्धूतरजस्तमोमलस्य बुद्धिसत्वस्य परे वैशारद्ये परस्यां वशीकार संज्ञायां वर्तमानस्य सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्ररूपप्रतिष्ठस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं, सर्वात्मनोगुणा व्यवसायव्यवसेयात्मकाः स्वामिनं क्षेत्रज्ञं प्रत्यशेषदृश्यात्मतयैनोपतिष्ठन्ते इत्यर्थः, सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनो गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानामक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानमित्यर्थः इत्येषा विशोका नाम सिद्धिः । याम्प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति ।

(विभूति-पाद ४९)

अर्थात् जिस समय योगी का चित्त निर्मल हो जाता है और रज-तम मलों का नाश होकर बुद्धि में प्रज्ञालोक के भाव आ जाते हैं तब इसका प्रकृति के सब भावों पर अधिकार होता चला जाता है और संयम के बल से योगी का चित्त पूर्णरूपेण प्रकृति-पुरुष-विवेक को प्राप्त कर लेता है, तब स्वतः ही इसके मन में सर्वजयतृत्व शक्ति का उदय होता है। उसको संयम करते समय किसी भी अवलम्ब की आवश्यकता नहीं रहती, केवल मात्र चिन्तन ही उसके संयम का आधार बन जाता है। इस सिद्धि का नाम विशोका कहा गया है। अर्थात् प्रकृति पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेने पर योगी शोक-रहित हो जाता है। ऐसी स्थिति में योगी के मन में किसी प्रकार के दुःख एवं शोक का उदय नहीं होता। जिस प्रकार से एक चलते हुए चक्र के तेज प्रवाह को देखकर देखने वाले को उसकी पंखड़ियों के आने और जाने का उसके मन में कोई दुःख या शोक नहीं होता, उसी प्रकार से गुण-धर्मों के परिवर्तन को देखते हुए योगी को दुःख एवं शोक की उत्पत्ति नहीं होती।

"गुणागुणेषु वर्तन्ते इति।" इन भावों को मन में रखकर अहर्निश गुणों के परिवर्तन को देखकर किसी प्रकार के दुःख एवं शोक को मन में स्थान नहीं देता। इसी प्रकार से प्रकृति के विश्लेषणों पर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेने पर और मन में सर्वज्ञातृत्व शक्ति का उदय हो जाने के बाद योगी के गुणों के परिणाम को कोई परिणाम मानता ही नहीं है। सब मायिक दृश्यों को देखता हुआ भी वह दृश्यों से अलग रहता है और मुक्त रहता है।

श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान श्रीकृष्ण

ने युक्त योगी का लक्षण बतलाते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा,
कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्तइत्युच्यते योगी,
समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥

(गीता)

अर्थात् जिस योगी ने प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ करके उन पर पूर्णरूपेण अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह ज्ञान-तृप्तात्मा एवं जिसने पूर्णरूपेण आत्म-साक्षात्कार कर लिया, जिसको पूर्णरूपेण विवेक ख्याति हो गई है, वह विज्ञान-तृप्तात्मा। इसी प्रकार से विवेक ख्याति के द्वारा जिसने अपने स्वरूप को बिल्कुल गुण धर्मों से अलग कर लिया है वही व्यक्ति कूटस्थ कहलाता है। कोई विकार भी उसे बाधित नहीं करते। उसकी दृष्टि में लोहा, सोना, पत्थर सब बराबर होता है, ऐसा योगी सर्वथा परिपूर्ण एवं युक्त योगी कहलाता है। ऐसा योगी ही सर्वभावअधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व की शक्ति वाला हुआ करता है, ऐसे योगी को ही पूर्ण एवं युक्त योगी कहते हैं।

—० योग-बुद्धि ०—

आत्मा अकर्ता है, इसलिए यदि देह से भी कर्म छोड़ बैठोगे तो तमोगुण में जा पड़ोगे। इसके विपरीत यदि कर्म करोगे तो रजोगुण में पड़ोगे—ऐसा दुहरा पेच है। अतः गीता ने एक युक्ति निकाली। कर्तृत्व जहां जोर मारता हो, उसे तोड़ डालो। कर्तृत्व जोर कहां मारता है? फल के अवसर पर। "मैंने काम किया है तो मैं वेतन का अधिकारी हूं!" फल के सम्बन्ध में इस तरह कर्तृत्व का हक जोर मारता रहता है। अतः फल का अधिकार छोड़ देना ही कर्तापन को छोड़ देना है। फलाशा को लोक तोड़ डाले तो फिर कर्तृत्व-विषयक अभिमान चला जाता है। गीता कहती है—"तुमने आत्मा का अकर्तापन मान लिया है। तब जबकि कर्म ही तुम्हारा नहीं है तो फिर फल कहां से होगा?" 'मैं देह से भिन्न अकर्ता हूं', ऐसा अभ्यास कर्म छोड़ देने से नहीं हो सकता, फल को छोड़ने से ही होगा। आत्मा के अकर्तापन की अनुभूति का आरम्भ कर्मच्छेदन से नहीं, फलच्छेदन से होता है। इस तरह बिल्कुल 'बालबोध' पद्धति से अकर्तापन के अभ्यास का पदार्थ-पाठ गीता ने दिया है। फल को तोड़कर फेंकते जाओ, तो फिर कर्मों को तोड़ फेंकने की जरूरत नहीं रहेगी। समाज-शास्त्र और नीति शास्त्र के अनुसार तुम्हें फल का अधिकार है, परन्तु तुम तो गीता के अनुयायी हुए हो न? गीता माता का बालक होने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। अतः उसके बालक के अनुरूप ही फल-त्याग का ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। —आचार्य विनोबा

योग ही दिव्य जीवन है

● डा० श्री ऋषिराम शर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

नित्यानन्दं परमसुखदं,
केवलज्ञानमूर्तिम् ।
द्वन्दातीतं गगनसदृशं,
तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ॥
एकं नित्यं विमलमचलं,
सर्वधीसाक्षिभूतम् ।
भावातीतं त्रिगुणरहितं,
सद्गुरुं तं नमामि ॥

परमात्मा ने सभी जीव-जन्तुओं को इन्द्रियों की अद्भुत शक्ति दी है, जिसके द्वारा विषय-भोग के सुख का अनुभव होता है। प्रत्येक जीव इसी सुख की खोज में पागल की तरह भटकता रहता है, किन्तु उसके साथ विवशता यह है कि प्रत्येक विषय-भोग में इन्द्रियों की रागवृत्ति या द्वेषवृत्ति रहती है, जिसके परिणामस्वरूप उसे निरन्तर क्रमशः सुख या दुःख की अनुभूति होती है। यह भी ऐसा अबाधक्रम है कि सुख के बाद दुःख और दुःख के बाद सुख आना अवश्यम्भावी है। कारण है मन की चञ्चलता, क्योंकि जैसे तेज हवा से जल-तरङ्गों का उठना स्वाभाविक है, उसी प्रकार भोग-वासना से मन का राग द्वेषमयी वृत्तियों से चञ्चल बना रहना स्वाभाविक है। राग-वृत्ति सुख का प्रतीक है और द्वेषवृत्ति दुःख का प्रतीक है। यह वृत्तियां भी क्षणभंगुर है, क्योंकि कर्म संस्कारों के भोग से सम्बन्धित है, जो स्पर्शमात्र से सुख या दुःख की अनुभूति कराकर नष्ट होते रहते हैं। जगदात्मा भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपने मुखारविन्द से स्पष्ट करते हैं कि—

ये हि संस्पर्शजा: भोगा:,
दुःखयोनय: एव ते ।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय,
न तेषु रमते बुधा: ॥

अर्थात् कर्म संस्कारों के परिपाक पर जब विषय-भोग समक्ष उपस्थित होता है तो स्वतः इन्द्रियां उस ओर आकर्षित होती हैं और उनमें पुण्य कर्मों के फलस्वरूप सुखमयी राग-वृत्ति तथा पापकर्मों के फलस्वरूप द्वेषवृत्ति स्वतः जागृत हो जाती है। इन वृत्तियों के स्पर्शमात्र से सुख या दुःख का आभास होता है जो भोग का भुगतान होते ही विलीन हो जाता है। इससे कभी स्थिर सुख नहीं मिल सकता, क्योंकि यह कर्मों का भुगतानमात्र है।

अतः बुद्धिमान पुरुष कर्मबन्धन में नहीं फँसते। यहां प्रश्न उठता है कि बुद्धिमान कौन है? बुद्धिमान वह है जिसमें अपना हित तथा अहित समझने का बोध हो। पेड़-पौधों तथा पशु-पक्षियों को भोग-योनियां कहा गया है, क्योंकि वह इन्द्रियों के वशीभूत होकर केवल विषय-भोगों में सुख-दुःख को भोगते हुए जीवनयापन करते हैं। उनमें यह सोचने की सामर्थ्य नहीं कि इस क्षणिक एवं अस्थिर इन्द्रिय भोग के अतिरिक्त कोई नित्य तथा अनन्त आत्म-सुख भी होता है, जिसे पाकर जीव निहाल हो जाता है, सदैव के लिए दुःखों से मुक्ति मिल जाती है। परमात्मा ने केवल मानव को इस विवेक बुद्धि को प्रदान किया है, जिसके द्वारा वह इन्द्रिय सुखकी मृग-तृष्णा से सावधान हो सकता है। इसीलिए गोस्वामी जी ने मानव को चेतावनी दी है कि—

बड़ तरु कर फल विषय न भाई।
स्वर्गउ स्वल्प अन्त दुखदाई॥
साधन-धाम मोक्ष कर द्वारा।
पाइ न जेहि परलोक सुधारा॥
ते नर सिर धुनि-धुनि पछतायें।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगायें॥

अतः मानव-जीवन में बुद्धि-विवेक का एक विशेष ही महत्व है, क्योंकि इसी के द्वारा जीवन के रहस्य को, सुख-दुःख के कर्म बन्धन को तथा दुःखों की नितान्त निवृत्तिमूलक मोक्ष द्वार को समझा जा सकता है। किन्तु बेचारा मानव भी एक भयङ्कर रोग से पीड़ित है। उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं है और अपने शरीर को ही अपना स्वरूप मान लिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि शरीर को होने वाले सुख और दुःख के अनुभवों को भी अपने में आरोपित कर लिया तथा गुणात्मक प्रकृति के कार्यकलापों में उलझ गया है। सतोगुण के प्रभाव से उसे अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का आनन्दाभास विषय-भोगों में होने लगा, जिसके कारण पुनः-पुनः सुखानुभूति के निमित्त भोगों की तृष्णा बलवती हो गई। वह यह भी भूल गया कि यह विषय-भोग इच्छामात्र से उपस्थित नहीं होता, अतः सतोगुणी पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप उपस्थित होता है, किन्तु पुण्यकर्म करने के कष्ट को भी वह शरीर पर नहीं भोगना चाहता। केवल—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं न कुर्वन्ति मानवः।

पुण्य के कर्मों का फल चाहता है न कि पुण्यकर्म करना। इस परिस्थिति ने उसे राग-द्वेष के जाल में फँसा दिया और उसी के मन की बनाई हुई सृष्टि ने उसे डराना आरम्भ कर दिया, क्योंकि—

संसारः स्वप्नतुल्यो हि
रागद्वेषादि संकुलः।
स्वकाले सत्यवत् भाति
प्रबोधे असत्यवत् भवेत्॥

अर्थात् यह संसार जीव के उन संस्कारों की रचना है जो कि विषय-भोगों को प्राप्त करने की राग-द्वेष की वृत्तियों से बने थे। उसने यह सब स्वयं चाहा था और उसके लिए कर्मजनित पाप-पुण्य के संस्कारों को तैयार किया था। इस जन्म में वही सब परिपक्व होकर इस संसार के रूप में फल देने को उपस्थित हो गये हैं। जिस प्रकार निद्रावरण में उसके मन की प्रच्छिन्न वृत्तियों ने स्वप्न-जगत् को बनाकर खड़ा कर दिया था, जो स्वप्नावस्था में सत्यभासित होकर उसे ही महान् कष्ट देने लगा था। उसका दुःख निद्रा-वरण के हट जाने पर स्वयं मिट जाता है। इसी प्रकार विषय-सुख प्राप्त करने की इच्छा ने अपने सत्य सच्चिदानन्दस्वरूप को न जानने के कारण उत्पन्न अविद्यावरण के प्रभाव में इस जीव को इस संसार में ढकेल दिया है। इसका जाल जीव को कर्म-बन्धन में फांसकर चौरासी लाख योनियों में जकड़े हुए है। जितना वह इस बन्धन से मुक्त होनेकी कोशिश करता है उतना और अधिक फँस जाता है। वस्तुतः जीवों की स्थिति उन मछलियों जैसी है, जोकि समुद्र में डाले गये जाल में बंध गई हैं। यद्यपि कुछ मछलियां इतनी चतुर होती हैं कि वह या तो जाल की सीमा से बाहर रहती हैं या सीमा में आ जाने पर भी जाल के बन्धन का आभास पाते ही सीमा से बाहर हो जाती हैं। किन्तु विवेकहीन मछलियां तो उसमें फँस ही जाती हैं। उनमें से कुछ जाल के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए छटपटाती हैं और कुछ जाल को ही अपने मुख में दबाकर तलीमें जाकर मूढ़ता की निश्चिन्तता का अनुभव करती हैं। इसी प्रकार कुछ जीव विदेहा-वस्था में रहकर मायाजाल की सीमा से बाहर रहते हैं और कुछ मायिक-बन्धन का आभास पाते ही अपने यत्न से इस बन्धन की सीमा से बाहर होकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं। किन्तु अन्य जीव कर्म-बन्धन में फँसकर मुक्ति के लिए छटपटाते हैं तथा मूढ़ावस्था के जीव तो गोबर के कीड़े की तरह उसी में फँसे रहना चाहते हैं। भगवान स्वयं अपने मुखारविन्द से इस माया-जाल की जटिलता का वर्णन करते हैं कि

दैवी ह्येषा गुणमयी,
मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते,
मायामेतां तरन्ति ते॥

अर्थात् यह गुणात्मक प्रक्रिया से बना माया-जाल गूढ़ है और इसके बन्धन से मुक्ति अत्यन्त कठिन है। जो जीव इसकी ग्रन्थियों के ज्ञाता और संचालक मुझ ईश्वर की उपा-सना करते हैं, वही इससे मुक्ति पा सकते हैं। एक और भी महान समस्या है कि इसका विस्तार इतना अधिक है कि चौरासी लाख योनियों

वाली इसकी ग्रन्थियों में केवल मानव-योनि वाली एक ही ग्रन्थि ऐसी है जहां पर इस जाल के दोनों आरम्भिक और अन्तिम सिरे जुड़े हैं। अतः इसी ग्रन्थि से ही युक्तियुक्त यत्न अर्थात् योग साधना सम्भव है। भगवान स्वयं स्वीकार करते हैं कि—

संन्यासस्तु महाबाहो,
दुःखमाप्तुम योगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म,
नचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात् बन्धन का मुख्य कारण विषय-भोगों की इच्छामात्र है और उसका संन्यास यानि तत्सम्बन्धी सभी संकल्प-विकल्पों का त्याग इस बन्धन से मुक्ति प्रदान कर देता है, किन्तु बिना योग को प्राप्त किये कोई संन्यासी हो ही नहीं सकता है और योग युक्त हो जाने पर तुरन्त भव-बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। योग-साधना केवल मानव शरीर में ही हो सकती है, किन्तु अभागा जीव मानव शरीर को प्राप्त होने भी वासना की खुजली से प्राप्त सुख के प्रलोभन में पड़ मानव योनि को व्यर्थ गंवा देता है। अर्थात् जिस प्रकार खुजली खुजाने से सुख की प्रतीति होती है और उसके तुरन्त बाद रोग की वृद्धि और पीड़ा की वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार विषय-भोग से सुख की प्रतीति तो होती है, किन्तु इस सुख भोग के बाद तृष्णा रोग की वृद्धि और कर्म-बन्धन के कारण अनेकानेक योनियों में महान् कष्ट भोगना पड़ता है। एक बार हस्तगत मानव-योनि निकल गई तो माया-जाल की चौरासी लाख ग्रन्थियों में भटक-भटक कर कष्ट भोगने के अतिरिक्त मुक्ति का कोई रास्ता नहीं मिल सकता। अतः मानव-शरीर पाकर योग-साधना करना ही जीवन की सफलता है और योग-युक्त जीवन ही दिव्य जीवन है।

योग से मुक्ति कैसे मिल जाती है? यह भी एक जटिल प्रश्न है। उपनिषदों में योग के इस रहस्य का उल्लेख मिलता है कि—

परांचिखानि व्यतृणत् स्वयंभूः।
तस्मात्परां पश्यति नान्तरात्मन्॥
कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्।
आवृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाया है। अतएव यह बाह्य भोगों के रसास्वादों में ही संलग्न है। कोई धीर पुरुष ही बाह्य-जगत् से इनकी वृत्तियों को खींचकर अपने अन्तर्जगत में समेट लेता है और आत्म-सुख के अमृत का पान करते हुए अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर पाता है। वस्तुतः शरीर का अभ्यास होने से ही जीव दुखी है और जैसे ही शरीर से अलग अपनी चिन्मय सत्ता का अनुभव हुआ कि उसका बन्धन टूट जाता है। क्योंकि—

यदि देहं पृथक्कृत्य,
चिदि विश्रम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शान्तो,
बन्धमुक्तो भविष्यति ॥

अर्थात् यदि तुम योग-साधना के द्वारा अपने को जड़ शरीर से अलग कर अपनी चिन्मय सत्ता में विश्वास करना सीख लो तो तुरन्त इस माया-जालके बन्धन से मुक्त होकर परम सुख एवं परम शान्ति को पा जाओगे। भगवान स्वयं अपने मुखारविन्दु से कहते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह,
उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्मात् योगाय युज्यस्व,
योगः कर्मसु कौशलम् ॥

अर्थात् योगयुक्त प्राणी पाप-पुण्यों के कर्म-जाल से बन्धनमुक्त हो जाता है। अतएव कल्याण कांक्षी सभी जीवों को योगयुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए। योग प्राप्ति में ही सब कर्मों की कुशलता है, योगयुक्त जीवन ही दिव्य जीवन है। भगवान इसे और भी स्पष्ट करते हैं कि—

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव ।
दानेषु यत् पुण्यफलं प्रदिष्टम् ॥
अत्येति तत् सर्वमिदं विदित्वा ।
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ।
युञ्जनेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥
तपस्विभ्योऽधिको योगी,
ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी,
तस्माद् योगी भवार्जुन ॥

अर्थात् वेदों का अध्ययन करने से, यज्ञ करने से, तपस्या करने से या दान करने से जो पुण्य प्राप्त होते हैं, उनका फल भी योग की तुलना में तुच्छ है, क्योंकि यदि यह विश्वास मात्र हो जाये कि योगी को परम-पद की प्राप्ति होती है, तो इसका पुण्य फल उन सभी पुण्य फलों से कहीं अधिक है। योग-साधना करने से जीव के अनन्त जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं और योगयुक्त योगी ही उस अनन्त अक्षय ब्रह्म सुख का रसास्वादन करता है। अतः हे अर्जुन! मेरा यह निर्णय है कि योगीजन, तपस्वियों, ज्ञानियों तथा कर्मकाण्ड करने वालों से अधिक श्रेष्ठ है। अतः मेरी अन्तरात्मा के टुकड़े मेरे अर्जुन! तुम भी योगी बन जाओ। बस, मेरे उपदेश का यही सार है कि "योग ही दिव्य जीवन है।"

ईश्वर

आचार्य श्री वेदव्रत शास्त्री, कासगंज

संस्कृत वाङ्मय में उपनिषदों एवं शास्त्रों का महत्वपूर्ण स्थान है। आध्यात्मिक ज्ञान में उपनिषदों को सर्वाधिक स्थान प्राप्त है। इनका एक नाम श्रुति भी है।१ शास्त्रों को दर्शन नाम से अभिहित किया जाता है। श्रुति और दर्शनों का आध्यात्मिक जीवन में वही स्थान है जो शरीर में कान, आंख का है। इसीलिये वैदिक ऋषि वाणी है कि—"हम आनवान् होते हुए कानों से भद्र श्रवण करें और आंखों से भद्र दर्शन ही करें।२

मानव जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है और उसके ये दोनों ही साधन है। इन दोनों के—श्रुति का दृष्टि और श्रवण का दर्शन नाम भी सार्थक है।

दर्शन शब्द का अर्थ जहां साधारणतया चक्षु से देखना है, वहां गम्भीरार्थ में मन से देखना भी है।

वेदान्त-दर्शन—

यह हमारा आस्तिक दर्शन है, सम्पूर्ण ग्रन्थ में ब्रह्म-चर्चा ही है। प्रथम सूत्र में ही ब्रह्म जिज्ञासा के रूप में उसे जानने की इच्छा व्यक्त की गई है।३

ब्रह्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में उल्लेख किया है कि—जो इस संसार की उत्पत्ति, पालना एवं विनाश का करने वाला है, वही ब्रह्म है।४ उसी ब्रह्म का सब वेदों ने प्रतिपादन किया है।५ जिस पर ब्रह्म से अन्य कोई भी उत्तम नहीं है। जो जगत् में व्याप्त हो रहा है, वही सब जगत् का पालनकर्ता और अध्यक्ष है, जिसमें अग्नि, सूर्य और विद्युत इन तीन ज्योतियों को प्रजा के लाभार्थ रचा है। वह षोडशी—अर्थात् (१) ईक्षण (२) प्राण (३) श्रद्धा (४) आकाश (५) वायु (६) अग्नि (७) जल (८) पृथ्वी (९) इन्द्रिय (१०) मन (११) अन्न (१२) वीर्य १३) तप (१४) मन्त्र (१५) कर्म (१६) नाम, यह सब ईश्वर ही के बीच में है अतः वह षोडशी है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में ईश्वरका वर्णन कहीं साक्षात् तथा कहीं परम्परया प्राप्त है।

---

१. "विविधाश्चोपनिषदोऽत्रसंसिद्धये श्रुति" (मनु० ६/२७२)
२. "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः" ऋ० १/८९/८ मनु २५/११)
३. अथातो ब्रह्म जिज्ञासा (१/१/१)
४. जन्माद्यस्य यतः (१/१/२)
५. यस्मान्न अतः परो अन्योऽस्ति। य, आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योती"षि सचते स षोडशी (यजु० ८/३६)

न्याय दर्शन—

यह एक ध्रुव सत्य सिद्धान्त है कि बिना कर्म किये ईश्वर फल नहीं देता, किन्तु कर्म करने वाले जीवों पर ईश्वर अनुग्रह करता है।१

जो कर्म जैसा हो और जिसका जब विपाक का काल हो उसको फल कर्म के अनुसार ही उसी समय देना यही ईश्वर का अनुग्रह या दया है।२

वैशेषिक-दर्शन—

ईश्वर का वचन होने से वेद को प्रमाण मानना चाहिए।३ आर्ष ज्ञान और परमात्मा का दर्शन धर्म से होता है।४

योग-दर्शन—

सर्व क्रियाओं का परमात्मा में अर्पण कर देना एवं फलाकांक्षा न करना ही ईश्वर-प्रणिधान है।५

सांख्य-दर्शन—

मुक्त जीव व बद्ध जीव कोई भी सृष्टि की रचना नहीं कर सकता, अतः ईश्वर की सत्ता मानना आवश्यक है।६ परमेश्वर सान्निधिमात्र से ही सृष्टि की रचना करता है।७ जीवों के विशेष कार्यों में भी परमात्मा का वर्णन आता है।८ समाधि सुषुप्ति वा मोक्ष में जीवात्मा की ब्रह्मरूपता होती है।९

सांख्य-दर्शनकार ने बीसियों सूत्रों में वेद प्रमाण दिया है। वेद को प्रामाणिक मानने वाला निश्चय ही ईश्वरवादी है। यथा— मङ्गलाचरण करना चाहिए, क्योंकि शिष्टाचार है, इसका फल भी देखा गया है तथा वेद में भी लिखा है।१०

मीमांसा-दर्शन—

परमात्मारूपी देवता के मानने से ही शास्त्र अर्थ वाला है। ११

---

१. तत् कारित्वादहेतुः। (न्याय द० ४/१/२१)
२. यद्यथा भूतं यस्य च यदा विपाककालस्तत्तथा तथा विनियुक्ते।
३. तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। १/२/१
४. आर्ष सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः १६/२/१३
५. ईश्वर प्रणिधानाद्वा।१/२३ ईश्वर प्रणिधानं सर्व क्रियाणां परमगुरावर्पणं तत् फला संन्यासो वा।
६. मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत् सिद्धिः। सां० १/९३
७. तत् सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्। सां० १/९६
८. विशेषकार्येष्वपि जीवानाम्। सां० १/९७
९. समाधि सुषुप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता। ५/११६
१०. मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् स्मृतितश्चेति।५/१
११. देवताध्ये च। ६/२/१९

इस तरह प्रत्येक दर्शनकार ने किसी न किसी स्वरूप में ईश्वर के अस्तित्वको स्वीकार किया है। प्रत्येक साधक ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, उसके प्राप्त करने का नाम मोक्ष है। जहां परमात्मा एवं जीवात्मा का सांख्य होता है। यह सब तभी सम्भव होता है जब विश्व का स्वामी परमात्मा हमारे लिए कल्याणरूप हो जाते है। जप, ध्यान से वह कल्याणस्वरूप होते है। अतः प्रत्येक मानव को उनका यथाशक्ति जप-ध्यान करना चाहिए।

ईश्वर की प्राप्ति का उपाय—

इन्द्रियां मानव शरीर में बलवती है, इन्द्रियों की अपेक्षा उसके विषय बलवान् है, विषयों से मन बलवान् है, मनसे बुद्धि, बुद्धि से जीवात्मा बली है। जीवात्मा की अपेक्षा अव्यक्त (मूल प्रकृति) बली है और अव्यक्त से भी बलवान् है अमृतस्वरूप परमात्मा। उससे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, वही श्रेष्ठता की चरम सीमा और परमगति है।

वह अमृतस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय-गुफा में छिपा हुआ है। सूक्ष्मदर्शी ज्ञानी महात्मा अपनी सूक्ष्म श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा उसका दर्शन-लाभ किया करते है।

दर्शन-लाभ की प्रथम सोपान—

मन सहित इन्द्रियों और उनके विषयों को अन्तरात्मा में लीन कर विवेक द्वारा विशुद्ध मन को ध्यान द्वारा समस्त विषयों से उपरत बना, कर्तापन के अहङ्कार से मानव मन शून्य हो जाता है। उस प्राणी का मन अविचल शान्त भाव का हो जाता है। वह अमृत रूप परमात्मा का दर्शन-लाभ करता है।

द्वितीय सोपान —

सर्व संकल्पों का परित्याग कर चित्त को सूक्ष्म बुद्धि में लीन कर काल पर विजय प्राप्त करने वाला भी ईश्वर दर्शन का लाभ प्राप्त करता है।

तृतीय सोपान—

जो मिताहारी और शुद्ध चित्त से रात्रि के प्रथम प्रहर में तथा पिछले प्रहरों में आत्मा को परमात्मा के ध्यान में लगाता है उसके अन्तःकरण में प्रभु के दिव्य-दर्शन होते है।

मन की प्रसन्नता का लक्षण -

मानव निद्रा में जैसे सुखपूर्वक शयन करता है, वायु रहित स्थान में जलता दीपक जैसे कम्पित नहीं होता है, उसी प्रकार यदि आपका मन कभी चञ्चल न हो, यही मन की परम शुद्धि का लक्षण है।

राग-द्वेष रहित स्वाधीनों मन वाला अपने वश में की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ भी प्रसन्नता का अनुभव करता है। प्रसन्नता में इसके समस्त दुःख नष्ट हो जाते है, क्योंकि प्रसन्न चित्त वाले मनुष्य की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। जैसे नदियों का

जल सब ओर से परिपूर्ण और अविचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए भी समा जाते हैं, उसी प्रकार सब भोग जिस स्थित प्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही प्रविष्ट हो जाते हैं वही पुरुष परम शान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।

शोकशून्य, ममतारहित, शान्त, प्रसन्न चित्त, मात्सर्यहीन एवं सन्तोषी तथा ज्ञान से तृप्त प्रभु के दिव्य दर्शन को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं।

इस संसार में कामना का विचित्र बन्धन है। जो इस बन्धन से छूट जाता है, वह भी मुक्त पद का अनुगामी होता है।

मोह रूपी बीज से उत्पन्न यह कामना रूपी कल्पतरु विचित्र वृक्ष है। क्रोध एवं अभिमान इसके महान स्कन्ध हैं। कुछ करने की इच्छा ही इसमें जल सिंचन का पात्र है। अज्ञान ही इसका मूल है, प्रमाद रूप जल ही इसका सिंचन है। परदोष दृष्टि ही इसके पर्व होते हैं, पूर्व जन्म कृत पाप ही इसके सार-भाग हैं। इसमें शोक रूपी आकर मोह एवं चिन्ता रूपी डालियां तथा भय अंकुर हैं। तृष्णारूपी लतायें इसमें सदा लिपटी रहती हैं।

जो प्राणी अपनी कामनाओं का योगबल से परित्याग कर देता है, उनका मन वश में हो जाता है वह प्रभु के दिव्य दर्शन का पात्र हो जाता है।

जो प्राप्त हुए पदार्थों का परित्याग, सब प्रकार के लोभ का परित्याग करते हैं। जो कृपणता एवं असूया से रहित हैं और "धर्म के उपयोग का यही सर्वोत्तम मार्ग है।" ऐसा समझकर सत्पात्रों को दान करते हैं। कभी पाप-कर्म का आश्रय नहीं लेते हैं तथा सदैव कर्म-योग के साधन में ही लगे रहते हैं, उनके मानसिक संकल्प की सिद्धि होने लगती है और उन्हें विशुद्ध ज्ञान स्वरूप परब्रह्म का दर्शन हो जाता है।

समस्त प्राणियों पर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह, निर्भिमानता, लज्जा, तितिक्षा और शम—ये परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग हैं।

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, भीतर-बाहर की शुद्धि, आहार शुद्धि और इन्द्रियों का संयम इनसे साधक में तेज की अभिवृद्धि होती है तथा उसके हृदय में विज्ञान का आविर्भाव होने लगता है और उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं। अर्थात् वह परम-प्रभु का प्यारा बन जाता है।

श्री रामचरितमानस से—

परम ज्ञानी सुतीक्ष्ण मुनि का

ईश्वर-प्रणिधान

ब्रह्मचारी श्री वीरेन्द्रस्वरूप

श्री रामचरितमानस का स्थान हमारे हिन्दी साहित्य में ही नहीं, अपितु समस्त जगत् के साहित्य में भी अपूर्व है। यह भारतीय हिन्दू संस्कृति का एक प्रमुख ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में उत्तम काव्यके सभी गुण, रस, काव्य-कला के साथ-साथ आदर्श गृहस्थ जीवन, आदर्श भ्रातृ-प्रेम, आदर्श पातिव्रत, धर्म, भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य का सुन्दर समन्वय है। उत्तम सदाचार शिष्टाचार से युक्त बालक, वृद्ध, युवा, नर-नारी सबके लिए अनुकरणीय आदर्श है। साधारण से साधारण कृषक तथा उच्चकोटि के विद्वान, दार्शनिक, राजनीतिज्ञ एवं साहित्य-विशारद समान रूप से आनन्द-गंगा में डुबकियां लगाते हैं। योगी, तपस्वी, साधु-सन्त, महात्मा सभी को इस ग्रन्थ में अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। वास्तव में इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण वेदों, शास्त्रों, उपनिषदों, धार्मिक ग्रंथों का सार निहित है। भगवान् के परम भक्त, परम ज्ञानी सुतीक्ष्ण मुनि का आदर्श स्वरूप का दिग्दर्शन कराना ही हमारे इस लेख का मुख्य उद्देश्य है। महा मुनि का निश्छल, निष्कपट भगवत-चरणों में आत्म-समर्पण पाठक को आनन्द-विभोर कर देता है। भक्त की पराकाष्ठा या ईश्वर-प्रणिधान का ऐसा अनुकरणीय स्वरूप अन्यत्र दुर्लभ है।

महर्षि अगस्त्य के परम ज्ञानी शिष्य श्री सुतीक्ष्ण मन, वचन, कर्म से भगवान की भक्ति में तल्लीन थे। ये राम के अनन्य उपासक थे। अहर्निश भगवद् चिन्तन में रत रहते थे। भगवान राम के प्रेम में कभी-कभी तो इतने विह्वल हो जाते थे कि उन्हें अपना देहाध्यास भी नहीं रहता था। कुछ पग आगे बढ़कर पुनः पीछे लौट पड़ते थे। मुनि के स्वरूप को देखने से ऐसा प्रतीत होता था कि उनका हृदय भगवान के दर्शनों के लिए आतुर हो रहा है: भगवान के गुणगान करते हुए मुनि को आत्म-विस्मृति सी हो जाती है। कभी-कभी अनेक प्रकार के मनोरथ करते हुए आतुरता से दौड़ने लगते। कभी-कभी सोचने लगते हैं कि न मेरे

ज्ञान है, न अनन्य भक्ति कि भगवान मुझे कैसे दर्शन देंगे ? मैंने कुछ भी जप, यज्ञ-दान नहीं किया है, फिर प्रभु मेरे पर कृपा कैसे करेंगे ?

भगवान शिव मुनि की प्रेम-विह्वलता, आतुरता, उल्लासता और तन्मयता से आत्म-विभोर हो रहे थे। शिव जी पार्वती जी से मुनि की दशा का वर्णन करते हुए स्वयं कहते हैं कि हे पार्वती –

निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी।
कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिस पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलउँ कहा नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करहिं गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई।
प्रभु देखे तरु ओट लुकाई॥
अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदय हरन भव भीरा॥

परम कृपालु भक्त-वत्सल भगवान क्या अपने भक्त के हृदय की विह्वलता को देखते रह सकते हैं ? कदापि नहीं, कहां तो छिपकर मुनि की पावन उन्मत्तता को देखकर प्रफुल्लित होना चाहते थे, किन्तु विवश हो गये अपने स्वरूप का दर्शन देने के लिए। मुनि के हृदय में भगवान का स्वरूप प्रतिबिम्बित हो गया। दर्शन पाकर भोले मुनि मार्ग में ही स्थिर भाव से बैठ गये। उनकी सहज समाधि लग गई। भगवान राम मुनि को बार-बार जगाते अपने स्वरूप के दर्शन देने के लिए। किन्तु मुनि समाधि में मग्न प्रभु के दर्शन का असीम आनन्द ले रहा है। भगवान शिव जी पार्वतीजी से कहते हैं कि राम मुनि की ध्यान-मग्न समाधि से विरत कर अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए जगाते हैं, किन्तु मुनि नहीं जागता।

मुनिहि राम बहु भाँति जगावा।
जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥

परम कौतुकी भगवान राम ने जब यह देखा कि मुनि की समाधि नहीं टूट रही है, तब उनके हृदय में अपना राजसी रूप हटाकर अपना चतुर्भुज रूप स्थापित कर दिया। भगवान शिव पार्वती जी से पुनः कहते हैं—

भूप रूप तब राम दुरावा।
हृदय चतुर्भुज रूप देखावा॥

मुनि के हृदय में चतुर्भुज रूप प्रगट होते ही उनकी आकुलता बढ़ गई—

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे।
बिकलहीन मनि फनि बर जैसे॥

मुनि की समाधि भंग हो गई। भगवान के दर्शन के लिए हृदय व्याकुल हो उठा—

आगे देखि राम तन स्यामा।
सीता अनुज सहित सुख धामा॥

मुनि का हृदय शीतल हो गया। अपने सम्मुख लक्ष्मण, सीता सहित मुख के निधान भगवान राम के साकार स्वरूप के दर्शन करने लगा। मुनि से रहा न गया—

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी।
प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी॥

मुनि को चरणों में दण्डवत् पड़े हुए देख कर श्रीराम से न रहा गया—

भुज बिसाल गहि लिए उठाई।
परम प्रीति राखे उर लाई॥

मुनिहि मिलत अस सोह कृपाला।
कनक तरहि जनु भेंट तमाला॥
राम बदन बिलोक मुनि ठाढ़ा।
मानहुं चित्र माझ लिखि काढ़ा॥

राम के विश्व विमोहन स्वरूप को देखकर महा मुनि चित्तवृत्त खड़े के खड़े रह गये। जन्म-जन्मांतर की साधना पूर्ण हो गई। जीवन कृत-कृत्य हो गया। आशा जाग्रत होती है कि पाठक महामुनि के परम-पावन ईश्वर प्रणिधान की चरमोत्कर्ष साधना में विलीन हो गये।

—❀ चित्त ही मन्त्र है ❀—

मन्त्र का अर्थ है: जो बार-बार पुनरुक्त करने से शक्ति को अर्जित करे; जिसकी पुनरुक्ति शक्ति बन जाये। जिस विचार का भी बार-बार पुनरुक्त करेंगे, वह धीरे-धीरे आचरण बन जायगा। जिस विचार को बार-बार दोहरायेंगे, जीवन में वह प्रकट होना शुरू हो जायगा। जो भी आप हैं, वह अनन्त बार कुछ विचारों को दोहराये जाने का परिणाम है।

सम्मोहन पर बड़ी खोजें हुईं। आधुनिक मनोविज्ञान ने सम्मोहन के बड़े गहरे तलों को खोजा है। सम्मोहन की प्रक्रिया का गहरा सूत्र एक ही है कि जिस विचार को भी वस्तु में रूपान्तरित करना है, उसे जितनी बार हो सके, दोहराओ। दोहराने से उसकी लीक बन जाती है; लीक बनने से मन का वही मार्ग बन जाता है। जैसे नदी बह जाती है, अगर एक गड्ढा खोदकर राह बना दी जाय, नहर बन जाती है—वैसे ही अगर मन में एक लीक बन जाय, किसी भी विचार की, तो वह विचार परिणाम में आना शुरू हो जाता है।

दवाओं का भी प्रभाव, विज्ञापन ठीक से किया जाए तो ठीक ही होता है। तो हर अखबार, पत्रिका, रेडियो, टेलीविजन—सब तरफ से प्रचार होना चाहिए। प्रचार व्यापार कारगर है, जितनी दवा के तत्त्व उससे ज्यादा, क्योंकि वही प्रचार आपको सम्मोहित करेगा। वही प्रचार मन्त्र बन जाता है। अखबार खोला और 'ऐस्प्रो', रेडियो खोला और 'ऐस्प्रो', टेलीविजन पर गये और 'ऐस्प्रो', बाजार में निकले और बोर्ड 'ऐस्प्रो'—जो भी करें ऐस्प्रो पीछा करती है। वह सिर-दर्द से भी बड़ा सिर-दर्द बन जाती है। फिर वह सिर-दर्द को हरा देती है।

पुनरुक्ति शक्ति पैदा करती है। मन्त्र का अर्थ है किसी चीज को बार-बार दुहराना। यह सूत्र कह रहा है: चित्त ही मन्त्र है—चित्तं मन्त्रः।

—आचार्य श्री रजनीश

गतांक से आगे—

क्रिया योग-५

—श्री गिरीशदेव वर्मा

शारीरिक तप—

देव द्विज गुरु प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

(२) शौच—

कटि-स्नान—

इसको पेड़ू-स्नान, उदर-स्नान तथा Hip bath भी कहते हैं। इसके आविष्कारक जर्मनी के डा० कूई कूने है। इस स्नान के लिए एक लकड़ी या मिट्टी का नाद या टब लेकर उसमें इतना पानी डालना चाहिए कि उसमें बैठने पर वह जघों और नाभि तक पहुंच जावे। पानी साधारण कुएं के ताजा जल के समान हो। इस टब में बिल्कुल नंगा होकर बैठना चाहिए। पीठ को पीछे टेक देना चाहिए। ऐसा करने पर मेरुदण्ड का भी स्नान हो जाता है। पैरों को टब के बाहर आगे रखो। किसी छोटी तिपाई, चौकी या ईंटों पर आराम से रख लेना चाहिए। टब में बैठने के बाद शरीर का जो भाग खुला हो उसे सिर व मुंह को छोड़कर कपड़े से ढक लेना चाहिए। अब अपने दाहिने हाथ में एक छोटी तौलिया चौपत करके तथा उसे पानी से तर करके पेड़ू के ऊपर दाहिनी ओर एकदम नीचे रखते हुए नाभि के निचले भाग को अर्द्ध-चन्द्राकार में दाईं से बाईं ओर व ऊपर से नीचे को जल्दी-जल्दी रगड़ना चाहिए। घर्षण जरा दबाकर करना चाहिए, मगर इतना नहीं कि चमड़ी छिल जावे।

इस स्नान को पांच मिनट से आरम्भ करके आधे घण्टे तक किया जा सकता है। आरम्भ में ठण्डे पानी में बैठते हुए थोड़ी हिचक लगती है, किन्तु थोड़ी ही देर बाद बड़ा अच्छा मालूम होने लगता है। कभी-कभी उसी में नींद आ जाती है। स्नान कर चुकने पर टब से निकल कर सारे शरीर को ठण्डे जल से धोकर पोंछ देना चाहिए और शरीर को गरम करने के लिए हल्का व्यायाम टहलना आदि करना चाहिए अथवा गरम कम्बल ओढ़कर लेट जाओ। कटि-स्नान किसी बन्द जगह में लेना चाहिए।

कटि-स्नान में जो पेड़ू को रगड़ा जाता है उससे वहां की मांसपेशियां बलवान हो जाती हैं, जिससे आंतों में चिपका मल बाहर हो जाता है। आंतों की दशा कितनी ही खराब क्यों न हो, कुछ दिन कटि-स्नान लेने से टट्टी साफ होने लगती है। यह स्नान

जिगर, तिल्ली एवं अंतड़ियों के रस-स्राव को भी बढ़ाता है, जिससे पाचन-शक्ति बढ़ जाती है। यद्यपि कटि-स्नान पेड़ू पर ही लिया जाता है, किन्तु इससे शरीर के सभी अंगों को लाभ पहुंचता है। डा० लूई कूने का कहना है कि कोई भी ऐसा रोग नहीं है जिसमें कटि-स्नान लाभ न पहुँचाता हो।

रीढ़-स्नान—

इसे Spinal bath भी कहते हैं। यह कई प्रकार से लिया जाता है।

(१) एक लम्बी तौलिया को ठण्डे जल से भिगोकर निचोड़ लीजिये। उसके बाद इसके दोनों सिरों को दोनों हाथों से पकड़ कर और पीछे की तरफ ले जाकर अपनी रीढ़ की हड्डी को उससे रगड़िये। हर एक या दो मिनट बाद तौलिये को गीला कर लिया करें। इस तरह पांच मिनट तक कर चुकने के बाद अन्त में सिर को ठण्डे पानी से धोकर क्रमिक शीत घर्षण स्नान करने के बाद यह स्नान खत्म करें।

(२) एक धोती या चादर को एक फुट चौड़ी, दो फुट लम्बी और कम से कम आध इञ्च मोटी गद्दी सी बनाकर साफ जमीन या लकड़ी के तख्ते पर बिछावें और उसे ठण्डे पानी से खूब तर कर दें। तत्पश्चात् उस पर पीठ के बल नंगे होकर लेट जायें ताकि भीगी गद्दी पूरी पीठ के नीचे पड़े तथा सिर व पैर गद्दी से अलग रहें। अब समूचे बदन को सिर के अलावा एक कम्बल से ढक लें। पांच मिनट तक या जब तक गर्मी न महसूस करें कम्बल के नीचे पड़े रहें। अन्त में सिर को ठण्डे जल से धोकर क्रमिक शीत घर्षण स्नान करने के बाद यह स्नान समाप्त करें।

(३) एक पीढ़े पर नंगे होकर उकड़ू बैठ जाइये और किसी दूसरे आदमी से कहिये कि वह लोटे में ठण्डा पानी भर-भर कर पतली धार से और बिना रुके आपकी रीढ़ पर पांच मिनट तक डाले और अन्त में उस स्थान को सूखे कपड़े से रगड़े। फिर सिर को ठण्डे पानी से धोकर क्रमिक शीत घर्षण स्नान ले लें।

रीढ़-स्नान से शारीरिक जीवन-शक्ति बलवती होती है। रीढ़ की अनावश्यक गर्मी दूर होती है तथा बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य सुधरता है।

धड़-स्नान—

इसे Trunk bath भी कहते हैं। एक लकड़ी का तख्ता दीवार के सहारे खड़ा करके उस पर नंगी पीठ टेक कर बैठिये। पैरों को फैलाकर किसी तिपाई आदि पर रख लीजिये, अपनी बाईं ओर किसी चौड़े मुंह के बर्तन में थोड़ा ठण्डा जल लेकर रखिये। तत्पश्चात् कमर के ऊपर (धड़) के अंगों पर बारी-बारी से बायें हाथ से बर्तन से पानी ले-लेकर डालते

जाइये और दाहिने हाथ से एक मोटे खद्दर के टुकड़े से उन अंगों को रगड़ते जाइये। पहले ३-४ मिनट तक केवल पेड़ू को रगड़ें, उसके बाद दूसरे पांच मिनट तक समूचे पेट को, तब छाती को, उसके बाद धड़ के अगल-बगल के हिस्सों को, फिर पीठ को, जहां तक हाथ पहुँच सके। तत्पश्चात् दोनों आंखों, उनकी संधियों तथा धड़ के अन्य भागों को उस समय तक रगड़ें जब तक ठण्ड न मालूम होने लगे और शरीर में ताजगी न आ जाय। गर्दन, चेहरे और सिर को भी रगड़ना चाहिए। १५-२० मिनट में पूरा स्नान समाप्त कर देना चाहिए।

इस स्नान से शरीर के ऊपरी हिस्से के सब रोग दूर हो जाते हैं। पाचन-शक्ति ठीक हो जाती है तथा रक्त-सञ्चालन सम्यक् ढङ्ग से होने लगता है।

जननेन्द्रिय-स्नान—

इसे लिंग-स्नान, मेहन-स्नान तथा Sitz bath भी कहते हैं।

इस स्नान के लिए किसी टब में एक तिपाई रख दी जाती है और उसमें इतना पानी भरा जाता है कि वह तिपाई पर चारों ओर टकराता रहे। पैरों को टब के बाहर करके उसी तिपाई पर नंगे बैठ जाना चाहिए, फिर एक मुलायम कपड़े को पानी में भिगो भिगो कर जननेन्द्रिय को अर्थात् उसके अगले भाग को धोना चाहिए।

पुरुषों को चाहिए कि वह लिंग के अगले हिस्से के चमड़े को बायें हाथ से खींचकर पानी के भीतर से जायें और दायें हाथ में कपड़ा लेकर उससे आगे के चमड़े को ऊपर से नीचे रगड़ कर धोवें। जिनका खतना हो जाता है उनको तौलिये से अण्डकोष और गुदा के बीच सीवन के भाग को धोना चाहिए।

स्त्रियों को चाहिए कि वे कपड़े से एक बार जितना पानी उठाया जा सके उठाकर जननेन्द्रिय को ऊपर से नीचे लगातार धोया करें। मासिक धर्म में यह स्नान बन्द रखना चाहिए। इस स्नान में पानी जितना ठण्डा होगा उतना ही लाभ होगा। यह स्नान ५ मिनट से आरम्भ करके २० मिनट तक लिया जा सकता है।

स्नान के बाद कपड़े पहन कर २०-२० मिनट तक खुले में तेजी से टहलना चाहिए। मेहन-स्नान से शरीर की गर्मी शान्त हो जाती है जिससे कोई रोग ठहर नहीं पाते। यह स्नान शान्ति को देने वाला है। कुछ प्राकृतिक चिकित्सक रोगियों को प्रातः कटि-स्नान तथा सायं मेहन-स्नान कराते हैं, जिससे स्वास्थ्य में अपूर्व सुधार हो जाता है।

हठयोग बघोली क्रिया द्वारा गुप्तांगों का

परिशोधन किया जाता है, किन्तु यह क्रिया कठिन तथा गुरु-सानिद्ध में करने योग्य है, इसलिये उसका वर्णन यहां नहीं किया जा रहा है।

गुदा-स्नान—

इसको Anel bath कहते हैं। हठयोग में इसको बस्ति क्रिया कहते हैं। एक चिकनी नली को गुदा में ले जाकर वौति-कर्म की सहायता से गुदा-मार्ग द्वारा जल चढ़ाया जाता है और निकाला जाता है। साधारणतः इस क्रिया को करना कठिन है। इसके स्थान में ऐनिमा से काम लिया जा सकता है। यह यन्त्र बाजार में बिकता है और डाक्टर लोग मलावरोध की बीमारियों में ऐनिमा से पेट साफ कराते हैं और इससे आंतों में मल जमा नहीं होता। शुरू में गुनगुने पानी से ऐनिमा लेते हैं और बाद में ठण्डे पानी से। पानी में साबुन आदि मिलाना ठीक नहीं है। यदि आवश्यक हो तो कागजी नींबू की दो-चार बूंदें पानी में मिलाई जा सकती हैं ऐनिमा लेने का तरीका किसी भी डाक्टर या कम्पाउण्डर से जाना जा सकता है।

ऐनिमा तथा कटि स्नान के द्वारा शरीर के भयङ्कर से भयङ्कर रोग दूर किये जा सकते हैं और शरीर शुद्धता के लिए स्नान बहुत आवश्यक है। यदि मास में एक बार भी ऐनिमा ले लिया जाया करे तो पेट में मल जमा नहीं होता और अनेक प्रकार की बीमारियां नहीं होतीं।

पैर-स्नान—

टब या किसी अन्य चौड़े मुँह के बर्तन में पैर के टखने तक ठण्डे पानी में एक या दो मिनट तक खड़े रहें। फिर पानी से निकलकर एक तौलिया से उस स्थान को खूब रगड़ कर पोंछें। बाद में पांच मिनट तक तेजी से टहलें अथवा जीवन तत्त्व साधन की बाल-मचलन क्रिया करें। इस प्रकार दो बार स्नान लेने से पैरों की कमजोरी दूर हो जाती है तथा उनमें ताकत व गर्मी का सञ्चार हो जाता है।

तलवा-स्नान—

ओस से ओतप्रोत हरी घास या भींगी जमीन पर शक्ति के अनुसार ५ से २० मिनट तक रोज दिन में नंगे पैर टहलें और टहलने के बाद तलवों को तौलिये से रगड़ें और थपथपायें। इससे तलवोंकी जलन शान्त होती है और आँखों की रोशनी बढ़ती है।

नाड़ी-शुद्धि –

इसके लिए सोम, विलोम, प्राणायाम करना चाहिए। इसकी विधि निम्न प्रकार है:

यह क्रिया सिद्धासन, पद्मासन या सुखासन पर बैठकर करना चाहिए। ॐ का ७ः बार मानसिक जप करते हुए बायें नासिकापुट से धीरे धीरे वायु खींचे, यह पूरक हुआ, फिर

२४ बार ॐ का जप करते हुए कुम्भक करें। तदनन्तर १२ बार ॐ का जप करते हुए दाहिने नासापुट से वायु निकालते हुए रेचक करें। थोड़ी देर वायु को बाहर रोककर छः बार ॐ जपते हुए दाहिने नाक से पूरक करें। २४ बार ॐ का जप करते हुए कुम्भक करें और १२ बार ॐ का जप करते हुए रेचक करें, यह रेचक बायीं नाक से करें। यह एक प्राणायाम हुआ। इस तरह पाँच प्राणायाम से आरम्भ करके ८० प्राणायाम तक करना चाहिये। जप की मात्रा बढ़ाते जायें, किन्तु पूरक, कुम्भक व रेचक अनुपात १ : ४ : २ के हिसाब से रहे। इस प्राणायाम को प्रातः, मध्याह्न, सायं तथा अर्द्ध रात्रि में अर्थात् चार बार करना चाहिए।

तीन मास तक यथाविधि प्राणायाम करने से नाड़ी-शुद्धि हो जाती है। इस प्राणायाम को करने से पहले आसन सिद्ध कर लेना चाहिए, क्योंकि ८० प्राणायाम करने में करीब दो घण्टा लग जाते हैं। अतः तीन घण्टा तक सुखपूर्वक एक आसन पर बैठने का अभ्यास कर लेना चाहिए।

सूक्ष्म शरीर

स्थूल शरीर के इन स्नानों के बाद सूक्ष्म शारीरिक शुद्धिकरण का नम्बर आता है इसके लिए जीवन तत्व साधन सर्वोत्तम है। ये क्रियायें परम कारुणिक योगयोगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की अमर देन है। इस क्रिया से शरीर के सभी स्थूल व सूक्ष्म अंग शुद्ध हो जाते हैं और शरीर का कायाकल्प हो जाता है। जीवन-तत्व साधन सभी प्रकार के रोगियों के लिए परम श्रेयस्कर एवं हितकर है। इसमें नौ क्रियायें हैं जिनका वर्णन संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है। विशेष जानकारी के लिए सिद्धगुफा सवाँई (आगरा) से "जीवन तत्व साधन" नामक पुस्तक मंगाकर पढ़ना चाहिए। श्री सिद्धगुफा आश्रम पर इन क्रियाओं के प्रशिक्षण की पूरी व्यवस्था है।

(१) सर्वोत्तान—सीधे लेट करके अपने सिर के पीछे दोनों हाथों की उंगलियों को आपसमें फंसाकर और उल्टा करके सारे शरीर को तानना चाहिये, फिर शरीरको ढीला छोड़ देना चाहिए, यह क्रिया ३ बार की जाती है।

(२) स्कन्ध चालन—इसमें अपने दोनों स्कन्धों को आगे से पीछे और पीछे से आगे को गोलाकार घुमाना चाहिए। जिस प्रकार साइकिल पर बैठने वाला व्यक्ति साइकिलके पैडल को गोलाकार चलाता है, उसी तरह दोनों कन्धों को चलाया जाता है। यह क्रिया १५ मिनट तक की जाती है।

(३) पग चालन—चित्त लेटकर दोनों हाथों को बगल में पड़ा रहने दें। उसके बाद बायें पैर पर दायें पैर को रखकर इस प्रकार हिलायें कि जिससे बायें पैर का अंगूठा और दायें पैर की एड़ी जमीन को स्पर्श करे। इसी प्रकार दायें पैर पर बायें पैर को रख करके पूर्वोक्त प्रकार से हिलायें जिससे बायें पैर की एड़ी व दायें पैर का अंगूठा जमीन को स्पर्श करता रहे। इस क्रिया में पैर का निचला भाग ही हिलता है और धड़ व गर्दन व सिर

अपने स्थान पर यथावत् रहते हैं। यह क्रिया ८ मिनट तक की जा सकती है।

(४) नाभि चालन—जिस तरह मगरमच्छ किसी जीव का भक्षण करके बाहर बालुका में आकर अपने पेटको इधर-उधर हिलाया करता है उसी तरह साधक को चाहिए कि चित लेट कर दायें से बायें और बायें से दाहिनी ओर करवट बदलने की तरह पलटता रहे, किन्तु सिर बाकायदा एक ही स्थान पर स्थिर रहना चाहिए। इस क्रिया को १५ मिनट तक करना चाहिए।

(५) जानु प्रसार—पूर्ववत् सीधे लेटे रहें। एक पैर को सीधा तनाये रहें और दूसरे पैर को मोड़कर उसके पंजे को सीधा रहने वाले पैर के जांघ पर घुटनों के पास रखें और मुड़े हुए पैर के घुटना को दाहिनी ओर जमीन पर मिलावें। इसी तरह तीन बार एक पांव से करें तथा तीन बार दूसरे पांव से करें।

(६) बाल मचलन—सीधे लेटकर अपने हाथ व पैरों को दायें के बाद बायां व बायें के दायां। इस प्रकार चलाओ जिस प्रकार मचलते हुए बच्चे करते हैं। दोनों हाथ-पैर क्रमशः जल्दी-जल्दी आगे-पीछे चलते रहेंगे। यह क्रिया केवल एक मिनट करना चाहिए।

(७) बच्चे का ध्यान—सीधे लेटकर शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ देना चाहिए। फिर किसी सुन्दर-चपल बच्चे का ध्यान कीजिये, जो किसी रमणीक उद्यान में खेल रहा हो। बच्चे की आयु कल्पना से दो-तीन वर्ष की हो। ध्यान करने वाला साधक कल्पना से स्वयं भी उस बच्चे के साथ खेले। इस क्रिया को पांच मिनट तक करना चाहिए।

(८) नाड़ी संचालन—सीधे बैठकर अपने पैरों को जितना अधिक से अधिक फैलाया जा सके खोलकर फैलाओ। इस तरह फैलाने पर घुटने के नीचे का भाग और पांव की पिंडली बिल्कुल जमीन से सटी रहनी चाहिए। अब थोड़ा शरीर को आगे की ओर झुकाकर दाहिने हाथ की उँगलियों से बायें पैर के अंगूठे को छुओ और बायें हाथ को एकदम पीछे ले जाओ। इसी प्रकार से फिर दायें हाथ को घुमाकर पीछे से आओ और बायें हाथ से दायें पैर के अंगूठे को छुओ। इस प्रकार से बराबर चक्रकार घुमाते रहो। यह १५ मिनट तक करना चाहिए।

(९) उत्क्षेपण—सीधे खड़े होकर अपने दाहिने हाथ व दाहिने पैर को झटक दो, इसके बाद बायें हाथ व बायें पैर को झटक दो। यह क्रिया केवल एक मिनट तक करनी चाहिए।

मानसिक शुद्धि —

मन पर तीन प्रकार के दोष आ जाया करते हैं—मल, विक्षेप, आवरण। इन तीनों दोषों को दूर करने के लिए ध्यान की प्रक्रिया सर्वोत्तम है। ध्यान करने से मन की चञ्चलता मिट जाती है, एकाग्रता आने लगती है। बाद में मन निर्विषय हो जाता है। ध्यान की प्रक्रिया लिखकर नहीं बताई जा सकती। इसके लिये किसी योग्य गुरु की शरणमें जाना चाहिए तथा वहां रहकर कुछ दिन अभ्यास करना चाहिए। श्री सिद्धगुरु (सवाई) में इसके प्रशिक्षण की पूरी व्यवस्था है।

अब आगे आसन के सम्बन्ध में बतायेंगे।

योगयोगेश्वर श्री चन्द्रमोहन योगिनः

॥ स्वागताभिनन्दनम् ॥

आचार्य चूड़ामणि कौशिक, वेदवेदाङ्ग विद्यालय देवघाट, नैपाल

विद्यानिधीनां प्रभु चन्द्रमोहां योगान्तविद्यापरिषेवितानाम् ।
योग प्रचारायधृतव्रतानां सुस्वागतं चाद्य करोमि शास्त्री ॥

अर्थ—विद्याओं के समुद्र, योगान्त विद्या से परिसेवित, योग-प्रचार के लिए ही व्रतों को धारण करने वाले आप प्रभु चन्द्रमोहन जी का, आज मैं शास्त्री स्वागत करता हूँ।

अनन्त सत्कोटि विभूषितानां नित्यात्मतत्वे परिनिष्ठितानाम् ।
शिष्यैः प्रशिष्यैः परिपूजितानां योगेश्वराणां शतशः प्रणामाः ॥

अर्थ—अनन्त कोटि से विभूषित नित्य प्रति आत्मतत्व में परिनिष्ठित रहने वाले और शिष्य-प्रशिष्यों के द्वारा पूजित श्री योगेश्वर को शतशः प्रणाम स्वीकार हो।

येषां स्वान्ते वसति भगवानिन्दु मौलिर्योगीशा ।
जिह्वासीमा विलसति गिरा कच्छपी वादयन्ति ।।
तेषां मन्दो विनयमहहस्यात् कथं कर्तुमर्हे-
श्चेतस्तुष्ट्यै तदपि कुरुते धाष्टर्यमेतत्तदीयम् ॥

अर्थ – जिनके अन्तःकरण में चन्द्रमा के मुकुट निवास करते है, योगियों के भी ईश्वर, जिनके जिह्वा में सरस्वती रमण करती है और जिनके मुख से सब भक्तों को आनन्द देने वाले शब्द निकलते है। ऐसे आपको मन्द-बुद्धि वाला मैं रात-दिन विनयपूर्वक अभिनन्दन करने योग्य कैसे हो सकता हूँ। तथापि तुष्टि के लिए अभिनन्द कर रहा हूँ। आप इसको स्वीकार करें।

पत्रैः पुष्पफलैस्तथा जललवैः भक्त्यार्पितैः श्रीफलैः ।
सन्तुष्टा हि भवन्ति भक्तवशगाः सदः सदा साधवः ॥
योगाचार्यं महाप्रभो इति जना सूक्तिर्हि सत्या यदा ।
तद्वः स्वागतमत्र सत्कृत महो सत्यं सतांस्यान्मुदे ॥

अर्थ—पत्र, पुष्प और फल तथा जल के कणों के द्वारा श्री फलादि भक्ति-पूर्वक अर्पित करने से आप जैसे साधु सदैव भक्तों के वश में रहने वाले निश्चय ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और सब भक्त-जन योगाचार्य महाप्रभु कहते हैं, यह कथन सर्वथा सत्य है, इस कारण आज मेरे द्वारा किया हुआ स्वागत सज्जन पुरुषों के लिए हर्ष का विषय हो ।

धन्येयं वसुधा भवच्चरणयोः संस्पर्शनाज्जायते ।
जाता दर्शनतो हि चात्र सकला ग्रामे निवासी जनाः ॥
पुण्यं सिद्धगुहाश्रमस्य विदितं यत्स्वागतं कौशिकः ।
नित्यं स्यात् भवतां कृपा प्रतिसमं संप्रार्थयामो मुहुः ॥

अर्थ—यहां की भूमि ही धन्य है, जो आप जैसे महापुरुषों के चरणों से स्पर्श हो जाती है और यहां के ग्रामवासी भी आपके दर्शन पाने के कारण धन्य हैं । संसार में प्रसिद्ध इस सिद्धगुफा आश्रम का मैं कौशिक हार्दिक स्वागत करता हूं । आपकी कृपा सदैव संसार के प्रति हो, यही बार बार प्रार्थना है ।

पूज्यानां चरणारविन्दरजसां येषां हि संस्पर्शनात् ।
तीर्थं सिद्धगुहाश्रमस्य 'वसुधा' स्वर्गेण संस्पर्धते ॥
तेषां धर्म विवृद्धये तनुभृतां साक्षात्तपो देहिनां ।
अत्रस्थामिलिता वयं भगवतां सुस्वागतं कुर्महे ॥

अर्थ पूज्यों (आप) के चरणों की धूलियों से स्पर्श हो जाने से ही यह तीर्थ सिद्धगुफा आश्रम की भूमि निश्चय ही स्वर्ग को लज्जित करती है । इस कारण धर्म-वृद्धि के लिए साक्षात् तपस्या रूपी आपके शरीर का यहां के हम सभी लोग स्वागत करते हैं ।

योगीश्वर याज्ञवल्क्य

● डा० श्री विष्णुदत्त शर्मा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रत्येक के हृदय में प्रभु विद्यमान हैं, परन्तु उन प्रभु की अपरिमित शक्ति बहुत कम लोगों के जीवन में व्यक्त होती है। हमारे देश के आध्यात्मिक इतिहास में ऐसे अनेक महापुरुषों का विवरण आता है, जिनके जीवन में प्रभु रमण करते, क्रीड़ते, खिलते और खेलते थे।

ऐसे अनन्त रत्नों में से देवशत् ब्रह्मरात भी एक प्रभावी रत्न थे। वे विद्या एवं वैभव सम्पन्न थे। उनके पास सब कुछ था, परन्तु मात्र एक पुत्र रत्न नहीं था। ब्रह्मरात बुद्धिमान थे, उन्हें सन्तान न होने का कुछ भी दुःख न था, परन्तु उनकी पत्नी सुनन्दा का मातृ-हृदय पुत्र की कामना करता था। अनेक बार वह व्याकुल होकर ब्रह्मरात से पूछा करती कि ईश्वर हमें सन्तान क्यों नहीं प्रदान करते। वैदिकों की इच्छा पूर्ण करने वाले ब्रह्मरात ने निश्चय किया कि सुनन्दा की इच्छा पूर्ण करनी चाहिए। अतः उन्होंने कामना-पूरक कामधेनु महा यज्ञ किया, जिसके फल स्वरूप आकाशवाणी हुई कि 'दिव्य लोकोत्तर चैतन्य सुनन्दा के गर्भ में आयेगा।' तदनुसार सुनन्दा गर्भवती हुई और समयानुसार उन्होंने उस जीवन्त चैतन्य को पुत्र-रूप में जन्म दिया जिनका नाम रखा गया याज्ञवल्क्य। सुनन्दा का जीवन कृतकृत्य हो गया। ब्रह्मर्षि ब्रह्मरात भी आत्मानन्द को त्याग कर याज्ञवल्क्य की क्रीड़ा में तल्लीन हो गये।

आठ वर्ष की आयु में उनका यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हुआ और तदुपरान्त उन्हें विद्याध्ययन के लिए आचार्य वैशम्पायन के यहां भेजा गया। अलौकिक बुद्धि एवं महान् तेजस्वी याज्ञवल्क्य ने सात वर्ष में ही वेद-अध्ययन पूर्ण कर लिया। महान् विचारक श्वेतुकेतु एवं यम से आत्म विद्या लेने वाला नचिकेता व सत्यकाम जाबाल का वह काल था। ऐसे तत्त्व वेत्ताओं के कालमें जो अध्ययन पच्चीस वर्षों में भी पूरा नहीं होता था, उसे सात वर्ष में ही पूर्ण करके याज्ञवल्क्य अध्यात्म ज्ञान अर्जित करने हेतु महर्षि उद्दालक आरुणि के आश्रम में चले गये। गुरु के सान्निध्य में रहकर याज्ञवल्क्य अभ्यास करने लगे और इस प्रकार चार-पांच वर्षों में ही मंत्रों-सहित अध्यात्म का सम्पूर्ण ज्ञान अर्जित कर लिया।

सम्पूर्ण विद्या प्राप्त कर वे गुरुदेव से आज्ञा ले आगे की ओर चल दिये और कुछ दिन शाकल्य मुनिके आश्रममें निवास किया। मुनि शाकल्य के आश्रम की आर्थिक व्यवस्था राजा सुप्रिय ने स्थिरोधार्य की थी। अतः आश्रम का नियम था कि प्रतिदिन एक आश्रमवासी राजा को प्रभु-पूजा का प्रसाद (चरणामृत) देने राज-महल जाता था। एक दिन चरणामृत लेकर याज्ञवल्क्य राज-महल गये। पहरेदारों ने उन्हें नहीं रोका इसलिए वह सीधे महल अन्दर चले गये। उन्होंने देखा कि राजा एक विलासी रमणी का अधरामृत-पान कर रहा है। याज्ञवल्क्य को देखकर राजा ने तिरस्कृत भाव से कहा कि चरणामृत को उस खम्भे पर छिड़क दे। याज्ञवल्क्य ने वैसा ही किया और क्षण भर में वह जड़ स्तम्भ पल्लवित-पुष्पित हो गया। यह चमत्कार देख राजा चकित रह गया। उसने अपनी त्रुटि का अनुभव किया और याज्ञवल्क्य से क्षमा याचना करते हुए उसने चरणामृत की प्राप्ति के लिए निवेदन किया। महान् तपस्वी याज्ञवल्क्य ने गम्भीर वाणी में कहा—"राजन् तुमने कामवासना के वशीभूत होकर चरणामृत का अपमान किया है, अतः अब तुम्हें वह कैसे प्राप्त हो सकता है?" यह कहकर याज्ञवल्क्य वापस आश्रम में चले आये और मानो कुछ हुआ ही नहीं।

यहाँ आश्रम में रहते हुए वे नित्य प्रति अपनी साधनामें रत रहते। बहुत थोड़ी अवधि तक ही वे यहाँ रहे और यहाँ से वे योग-विद्या के प्रमुख आचार्य हिरण्यनाभ के आश्रम में चले गये। यहाँ रहकर उन्होंने योग शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन किया और कुछ दिन यहाँ व्यतीत कर वे जंगलों में निकल गये। उनकी उपासना व तपश्चर्या से प्रसन्न होकर भगवान सूर्य ने उन्हें तत्त्व-ज्ञान का उपदेश दिया। भगवान सूर्य से ज्ञान एवं सरस्वती से शब्द प्राप्त कर उन्होंने शुक्ल यजुर्वेद का निर्माण किया। कुछ दिन पश्चात् वे मिथिलापुरी आ गये। यहाँ समस्त ऋषिकुल उन्हें प्रणाम करने आया, अनेक-जनों ने उनकी महान् तेजस्विता एवं बुद्धिमत्ता से चकित एवं प्रभावित होकर उनका चरणामृत ग्रहण किया।

वैदिक विचारधारा के अनुसार उस काल के सन्त भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे। उस समय ऐसी विचारधारा थी कि गृहस्थाश्रम लिए बिना समाजमें नहीं रहना चाहिए। अतः याज्ञवल्क्य जी ने भी गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना निश्चित किया। पति भक्ता कात्यायनी के साथ याज्ञवल्क्य जी का सुखी गृहस्थ जीवन प्रारम्भ हुआ।

उस काल के ब्रह्मवेत्ता राजा जनक जो बड़े ही तपोनिष्ठ एवं ज्ञाननिष्ठ थे, एक दिन

याज्ञवल्क्य जी के समक्ष उपस्थित हुए। ज्ञान-चर्चा काफी देर तक चलती रही उन दोनों में। याज्ञवल्क्य जी के उत्कृष्ट विचारों का जनक पर काफी प्रभाव पड़ा और वे याज्ञवल्क्य जी के प्रति काफी आकृष्ट हो गये। उस काल में हस्तिनापुर के राज्य-सिंहासन पर राजा जनमेजय विद्यमान थे। वे एक महान् प्रभावशाली राजा थे। याज्ञवल्क्य जी के तत्त्व-ज्ञान, महत्कार्य व उच्च विचारों से आकृष्ट होकर उन्होंने राज-पाट सभी का त्याग कर दिया और तीव्र तपश्चर्या हेतु वन को चले गये। जनमेजय ने तीव्र तपश्चर्या करते हुए वन में महा समाधि ली। उनके पश्चात् उनका पुत्र शातानिक जो याज्ञवल्क्य जी से अत्यन्त प्रभावित था राज-सिंहासन पर बैठा। इस प्रकार मिथिला एवं हस्तिनापुर के राजर्षि याज्ञवल्क्य जी के अनुगामी बन गये। मिथिला नगरी के निकट उन्होंने एक बड़े आश्रम की स्थापना की। यहां की पवित्र भूमि पर बैठ कर ही उन्होंने 'शतपथ ब्राह्मण' नामक ग्रन्थ लिखा। अनन्त लोग यहां उनके दर्शनार्थ एवं मार्ग-दर्शन पाने हेतु आते।

एक बार राजा जनक ने पृथ्वी के समस्त विद्वानों एवं पण्डितों की सभा बुलाई, इसमें याज्ञवल्क्य भी आये। राजा जनक ने सभा में घोषणा की कि इस सभा में जो ब्रह्मनिष्ठ और महान् ज्ञानी हो वह यहां खड़ी हुई एक सहस्र गायों को ले जावे। सभी एक-दूसरे की ओर देखने लगे, परन्तु कोई खड़ा नहीं हुआ। इस सभा में एकाएक याज्ञवल्क्य खड़े हो गये और कहने लगे—'इन गायों को अपने आश्रम में ले जाओ।' यह सुनकर सभा में शोर-सा मच गया। अनेक विद्वान कहने लगे—"क्या तुम स्वयं को हम सभी से अधिक ब्रह्मनिष्ठ समझते हो? और यदि ऐसा है तो तुम्हें हमारे शास्त्र विषयक प्रश्नों का उत्तर देना होगा।" इस पर याज्ञवल्क्य सहमत हो गये।

सभा में उपस्थित उस समय के महान् तत्त्व-वेत्ता अश्वल, कोषिक, तैय, शाकल्य, आरतकारु, चाक्रायण आदि ने याज्ञवल्क्य जी से यज्ञ-विषयक, आत्म-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्य जी ने सभी के तुरन्त ही समयोचित उत्तर दिये। सभी प्रश्नकर्ता पण्डित अपने प्रश्नों के योग्य उत्तर पाकर सन्तुष्ट होकर बैठ गये। अन्त में महान् विदुषी गार्गी खड़ी हुई, उन्होंने अनेक प्रश्न याज्ञवल्क्य जी से पूछे। याज्ञवल्क्य जी से अपने सभी प्रश्नों का यथोचित उत्तर पाकर गार्गी भी उनके समक्ष नत-मस्तक हो गईं। इस सभा में याज्ञवल्क्य जी की दिग्विजय हुई, उस समय सभी देवताओं ने पुष्प वृष्टि की। तत्कालीन महान् पण्डितों ने भी उन्हें गुरु रूप में स्वीकार किया।

इसी सभा में गार्गी के समीप ही मैत्रेयी

बैठी थी। मैत्रेयी के पिता 'मिश्र' का याज्ञवल्क्य जी के प्रति महान आकर्षण था। मैत्रेयी का पालन-पोषण अपनी मौसी गार्गी के ही आश्रम में हुआ था। गार्गी आजन्म ब्रह्मनिष्ठा कुमारी थी। उनके आश्रम से ज्ञान सम्पन्न होकर मैत्रेयी अपने पिता के घर आ गई थी। पितृ-गृह में याज्ञवल्क्य जी की अनेक बार प्रशंसा सुनकर मैत्रेयी का उनके प्रति सात्विक प्रेम व आदर हो गया। आज तक उसके हृदय में याज्ञवल्क्य जी के प्रति पूज्य व आदर-भाव था, परन्तु इस सभा में सम्पूर्ण चर्चा को सुनकर उसके उन भावों में तो वृद्धि हुई ही थी, परन्तु उससे विवाह करने की भी अभिलाषा उसके अन्तर में जग उठी। उसने उसी समय निश्चय कर लिया कि यदि विवाह करना है तो याज्ञवल्क्य जी से ही करना है। पिता को जब इस निश्चय का पता हुआ तो उन्होंने पुत्री को समझाया कि यह कैसे संभव है, याज्ञवल्क्य जी विवाहित हैं। मैत्रेयी ने इस पर कहा कि याज्ञवल्क्य जी मेरे मानसिक पति रहेंगे और वह आजन्म अपनी मौसी गार्गी की ही तरह ही ब्रह्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करेगी।

कात्यायनी के प्रति मैत्रेयी के हृदय में असीम स्नेह था। इसीलिए वह यदाकदा उनसे मिलने जाया करती थी। मैत्रेयी के अलौकिक गुणों से प्रभावित होकर कात्यायनी के मनमें भी उसके प्रति प्रेम निर्माण हो गया। इस प्रकार दोनों में ही गहरा स्नेह बन्धन था। शनैः-शनैः कात्यायनी, मैत्रेयी के मनोभावों से भलीभांति परिचित हो गईं। कात्यायनी महान् थी, उसका हृदय अत्यन्त उदार था। उसने एक दिन याज्ञवल्क्य जी से मैत्रेयी को प्रणय-बन्धन में लेने हेतु प्रस्ताव रखा। याज्ञवल्क्य जी आश्चर्य-चकित हो गये। तत्पश्चात् याज्ञवल्क्य जी और कात्यायनी में अनेक प्रश्नोत्तर हुए। याज्ञवल्क्य जी ने अनेक सांसारिक प्रश्न उपस्थित किये, परन्तु अन्त में कात्यायनी ने याज्ञवल्क्य के साथ मैत्रेयी का विवाह कराकर उसे अपने घर ले आई। प्रखर बुद्धिशीला एवं विदुषी होने पर भी मैत्रेयी आजीवन कात्यायनी की दासी के समान रहीं। मैत्रेयी के आने के पश्चात् उनका गृहस्थ जीवन और भी अधिक खिल उठा।

इसी बीच याज्ञवल्क्य जी के आश्रम में एक और घटना घटी। उनकी एक बहिन थी जिसका नाम था कंसारि। कंसारि बाल-विधवा थी और याज्ञवल्क्य के आश्रम में रहते हुए वे घोर तपश्चर्यामय जीवन व्यतीत कर रही थीं। एक दिन ऋतु-स्नान के चौथे दिन उसने स्नान के पश्चात् समीप में ही पड़ा हुआ एक वस्त्र अपने शरीर पर पहन लिया। कुछ समय पश्चात् उसे ज्ञात हुआ कि उसके गर्भ रह गया है। ईश्वर की क्या इच्छा थी, यह

तो किसे मालूम, परन्तु कंसारि तीर्थयात्रा के बहाने आश्रम से चली गई। समय पर उसने सघन वन में पीपल के वृक्षके नीचे एक बालक को जन्म दिया और उसे पत्तों में लपेट कर वहीं छोड़ दिया और प्रभु से प्रार्थना की कि वह उसकी रक्षा करे। देव ने उस बालक की रक्षा की। यही बालक बाद में पिप्पलाद ऋषि के नाम से विश्व-विदित हुआ। जब वह १२ वर्ष का हुआ, तभी एक दिन देवर्षि नारद जी उसके समीप पहुँचे। नारद जी को प्रणाम करके बालक ने अपने माता-पिता के बारे में उनसे पूछा। योग-समाधि से उसके जन्म के बारे में सब कुछ जानकर उन्होंने उस बालक से कहा कि याज्ञवल्क्य की बहिन कंसारी तेरी मां है, वही तुझे यहां छोड़ गई थी। यह सुनकर बालक को अत्यन्त क्रोध हुआ कि क्यों मुझे यहां छोड़ दिया गया? क्यों नहीं मेरा पालन-पोषण विश्वसनीय याज्ञवल्क्य के ही आश्रम में हुआ? इस प्रकार बालक में याज्ञवल्क्य के प्रति प्रतिशोध की भावना तीव्र रूप से जागृत हो उठी। वह अग्नि की उपासना में लग गया, जिसके फलस्वरूप एक कृत्या पैदा हुई। पिप्पलाद ने कृत्या को आदेश दिया कि वह जाकर याज्ञवल्क्य को नष्ट कर दे। पिप्पलाद की आज्ञा पाकर कृत्या ने याज्ञवल्क्य पर आक्रमण कर दिया। उसके तेज के सामने याज्ञवल्क्य का ब्रह्मतेज कमजोर पड़ गया। अतः उन्होंने ब्रह्मा एवं भगवान विष्णु की शरण ली, परन्तु उन दोनों ने एक ही उत्तर दिया कि "यह शक्ति पिप्पलाद के द्वारा छोड़ी गई है। वह जन्म-जन्मान्तर का महान् तपस्वी जीव है। उसकी शक्ति को हम नहीं रोक सकते।" अन्त में उन्होंने समाधिस्थ होकर भगवान शिव का आह्वान किया। भगवान शिव याज्ञवल्क्य जी के समक्ष प्रकट हो गये, परन्तु उन्होंने भी यही संकेत किया कि वह उसे उस कृत्या से नहीं बचा सकते। याज्ञवल्क्य जी ने क्षण भर विचार किया और फिर तुरन्त ही योग बल से अदृश्य हो गये और अणु के समान सूक्ष्म रूप धारण कर वे भगवान शिव के चरण-नख में प्रवेश कर गये। भूतभर्त्री योगियों में ऐसा सामर्थ्य रहा करती है। इसका उल्लेख मिलता है योग-दर्शन में—

कायरूपसंपमात् तद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशा सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।

ततोऽणिमादि प्रादुर्भावः काय सम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।

कृत्या भगवान शिव का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकी, अतः निस्तेज होकर लौट गई। कृत्या के जाते ही याज्ञवल्क्य भगवान शिव के चरण-नख से निकलकर प्रकट हो गये। याज्ञवल्क्य की बुद्धि एवं योग-शक्ति देख कर भगवान् शिव अत्यधिक प्रसन्न हुए और उनके श्रीमुख से निकला कि 'तू योगीश्वर है।'

इस प्रकार भगवान् शिव ने याज्ञवल्क्य जी को योगीश्वर की उपाधि दी। उस दिन से वेदों के अन्दर वैदिक ऋषि उच्चारण करते हैं--

योगीश्वरं याज्ञवल्क्यम् नारायणं नमस्कृत्य। अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः अथातो धर्मजिज्ञासा।

अर्थात् प्रथम नमस्कार योगीश्वर याज्ञवल्क्य को और उसके बाद नारायण को। याज्ञवल्क्य जी को नमस्कार किये बिना धर्म की व्याख्या और नारायण की पूजा नहीं।

योगीश्वर याज्ञवल्क्य जी ने प्रौढ़ अवस्था में ही सर्वस्व त्याग कर जाने का निश्चय कर लिया क्योंकि जो कुछ उन्हें करना था वह सब पूरा हो चुका था। मैत्रेयी की इच्छानुसार उन्हें आत्मज्ञान प्रदान कर एवं कात्यायनी के ऊपर समस्त आश्रम का कार्य-भार सौंपकर याज्ञवल्क्य जी चले गये।

भगवान् व्यास द्वारा रचित श्री भद्भागवत में पढ़ने को मिलता है कि योगीश्वर याज्ञवल्क्य जी भगवान के प्यारे ब्रह्मवेत्ताओं, ऋषियों, मुनियों एवं अन्य सिद्धेश्वरों की भांति संसार के विषयासक्त प्राणियों को उपदेश करने के लिए, उन्हें ज्ञान-दान करने के लिए उन्मत्त का सा वेष बनाकर पृथ्वी पर सदैव स्वच्छन्द विचरण करते रहते हैं।

उस महान् लोकोत्तर, तेजस्वी, भगवदीय व वैदिक चरित्र पुण्य पुरुष, साक्षात् भगवान् योगीश्वर याज्ञवल्क्य को हमारा अनन्य प्रणाम है।

—❀ सद्गुरु के लक्षण ❀—

१—जिस महापुरुष के उपदेश अज्ञान तिमिर के नाशक, ज्ञान के प्रकाशक, पाप-नाशक एवं जीव को शिव तत्व से मिलाने वाले हैं, उन्हें ही गुरुदेव कहते हैं। इन महापुरुषों में नीर-क्षीर की भांति मिले हुए माया और ब्रह्म को विलग कर देखने की योग्यता है। यह महानुभाव इस असत् जगत के आधार सत्यतत्व का ही सर्वत्र अनुभव करते हैं। इसलिए ही इन्हें परमहंस माना गया है।

२—सद्गुरु अन्य दीपों को प्रज्वलित करने वाली एक दीप-ज्योति है, आत्माओं को जगाने वाली एक महान् आत्मा है।

३—जिसके संस्पर्श मात्रसे शिष्य की अन्तर्शक्ति जाग जाती है और उसे आनन्दानुभूति होती है वही सद्गुरु है।

— श्री धनेन्द्रकुमार त्यागी

नाथसम्प्रदाय

एवं

मत्स्येन्द्रनाथ की उत्पत्ति

श्री रामशरणसिंह, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

संसार में मनुष्यों पर होने वाली ईश्वर की विशेष दृष्टि दो कारणों से प्रेरित होती है। इनमें प्रथम कारण, मनुष्य का धर्मानुष्ठान और द्वितीय अधर्मानुष्ठान है। धर्मानुष्ठान से मनुष्य के ऊपर ईश्वर की मङ्गलप्रद दृष्टि होती है और अधर्मानुष्ठान से अमङ्गलप्रद दृष्टि होती है। इसीलिये जब-जब मनुष्य धर्माधर्म का विशेष रीति से अनुष्ठान करते हैं, तब-तब ईश्वर उनके ऊपर विशेष दृष्टि का कोई ऐसी प्रथा प्रचलित करता है, जिसके द्वारा उनके अनुष्ठान का अनुकूल फल उपस्थित होता है।

द्वापर-युग के अन्तिम भाग में ऐसा ही अवसर उपस्थित हुआ। कितने ही मनुष्य धर्मानुष्ठान की पराकाष्ठा दिखलाते हुए ईश्वर से नित्य यही अभ्यर्थना करते थे कि भगवान् आप से बिछुड़े रहकर हमने अमूल्य समय नष्ट किया है, इससे हमारी जो हानि हुई है वह और कहीं नहीं, आपके समीप आने पर ही पूरी हो सकती है। अतएव आप कृपा करें और शीघ्र हमारे सामने एक ऐसा उपाय रखें, जिससे हमको आपके सामने पहुँचने में सुविधा प्राप्त हो। इनकी इस कारुणिक प्रार्थना ने भगवान् महादेव जी का आसन विचलित कर दिया। बस देर थी श्री महादेवजी ने समीपागत नारद जी को बदरिकाश्रमस्थ नर-नारायणों को प्रबोधित करने का परामर्श दिया। नर-नारायण ऋषभ राजा के पुत्र थे। ये अत्यन्त विरक्त और ब्रह्मनिष्ठ थे। यही नहीं, ये महानुभाव इस लोकागमन का जो वास्तविक उद्देश्य है, उसको अच्छी प्रकार समझकर ही शान्त न हो गये, बल्कि जिस किस उपाय से उसे प्राप्त ही कर दिखलाया। यही कारण था सांसारिक जीवों की तरह बार-बार काल के शिकार न बनकर आप दीर्घ समय से अक्षुण्ण भावतया इतस्ततः भ्रमण करते रहे। जब ये लोग बदरिकाश्रम में एकत्र बैठे हुए आत्म-ज्ञान के विषय में सानन्द परामर्श कर रहे थे, तब नारद जी ने उपस्थित हो श्री महादेव जी का सन्देश उद्घोषित किया। जिसको सुनकर आप लोगों ने अपना सौभाग्य समझा तथा नारद जी से

पूछ ही बैठे कि किस उद्देश्य से श्री महादेव जी ने याद किया है। नारद जी ने कहा—उन्होंने मेरे द्वारा आप लोगों से कहलवाया है कि आप जहां-तहां योग-मार्ग का उद्धार कर उन मुमुक्षुजनों का, जो इस उपाय की प्राप्ति के लिए आभ्यन्तरिक भाव से उनकी अभ्यर्थना कर रहे हैं उद्धार करें। नारायणों ने कहा तथास्तु, नारद जी आप अपने अभीष्ट स्थान को जाइये। हम इस आज्ञा के पूर्ण करने का प्रयत्न करेंगे। यह सुनकर धन्यवाद देते हुए नारद जी प्रस्थान कर गये।

इधर इस विषय में विष्णु भगवान् से कुछ परामर्श करने के अभिप्राय से नव-नारायण भी वहां से प्रस्थान कर गये, जो अविलम्ब ही बैकुण्ठी भगवान् की सेवा में उपस्थित हो श्री महादेव जी की उपलब्ध आज्ञा को किस तरह पूर्ण किया जाय इत्यादि प्रश्न करने लगे। आपने कहा, हम स्वयं अवतरण करने वाले हैं, जिसके लिए श्री महादेव जी की सम्मति चाहिए। अतः चलो वहीं चलेंगे, जिससे सब कार्य असन्दिग्ध हो जाय। यह सुन नारायण भी इस बातके लिए सहमत हो गये। इन्हें साथ लेकर विष्णु जी शीघ्र कैलास पर श्री महादेव जी के समीप पहुंचे। पारस्परिक अभिवादन के बाद यथोचित आसनों पर बैठने का निर्देश करते हुए भगवान कैलासनाथ जी ने उनके आने का कारण पूछा। विष्णु जी ने निज उद्देश्य प्रकट कर नारायणों का प्रस्ताव भी सामने रखा तथा कह सुनाया कि ये आपकी आज्ञा-पालन में अत्युत्कण्ठित हैं और विधि का निश्चय प्राप्त करना चाहते हैं। श्री महादेव जी ने उत्तर दिया कि आपके कार्यक्रम का अनुष्ठान आपकी ही इच्छा पर है। लेकिन नारायणों को अब अधिक विलम्ब करना उचित नहीं है। इनको चाहिए कि कुछ आगे-पीछे, जहां-तहां भारत में अवतार धारण कर संसारानलसन्तप्त हृदय मुमुक्षुओं को उद्धृत करें। हम भी, जिसमें भेद मानना अनुचित होगा फिर गोरक्षनाथ नाम का एक व्यक्ति प्रकट करेंगे। वह और तुम सब (यही नाथ सम्प्रदाय के दस महान् योगी हुए हैं) मिलकर अद्वितीय योग-ओषधि द्वारा दुःखत्रय से पीड़ित त्राहि-त्राहि शब्दान्वित मुमुक्षुजनों की रक्षा कर उनको सन्मार्ग में लगाना। इसके बाद नारायणों ने सिर झुकाकर कहा कि भगवान् हमको यह और सूचित कर दीजिए कि हम किन-किन नामों से प्रसिद्ध होंगे। आपने कहा—तुम्हारे में जो कवि-नारायण हैं वे मत्स्येन्द्रनाथ नाम से प्रसिद्ध होंगे। करभाजन नारायण गहनिनाथ नाम से प्रसिद्ध होंगे। अन्तरिक्ष नारायण जालेन्द्रनाथ नाम से, प्रबुद्ध नारायण कानिफनाथ नाम से, आविर्होत्रनारायण नागनाथ नाम से, पिप्पल नारायण चर्पटनाथ नाम से,

चमस नारायण रेवणनाथ नाम से, हरि नारायण भर्तृनाथ नाम से तथा द्रुमिल नारायण गोपीचन्द्रनाथ नाम से प्रसिद्ध होंगे और कवि नारायण के अवतारी भर्तृनाथ हमसे ही योग-दीक्षा प्राप्त करेंगे। गोरक्षनाथ मत्स्येन्द्रनाथ से योग-दीक्षा ग्रहण करेंगे। गहनिनाथ गोरक्षनाथ से दीक्षा लेंगे। ज्वालेन्द्रनाथ हमारे से दीक्षा प्राप्त करेंगे। कानिफनाथ ज्वालेन्द्रनाथ से ग्रहण करेंगे। नागनाथ गोरक्षनाथ से, चर्पटनाथ मत्स्येन्द्रनाथ से, रेवणनाथ मत्स्येन्द्रनाथ से भर्तृनाथ गोरक्षनाथ से, और गोपीचन्द्रनाथ ज्वालेन्द्रनाथ से योग-दीक्षा ग्रहण करेंगे। इस प्रकार पारस्परिक दीक्षा से दीक्षित हो तुम लोग मृत्युलोक में विचरते हुए जनों का उद्धार करोगे। जाओ हमारी आज्ञा को कार्यरूप में परिणत करने का अनुकूल अवसर प्राप्त करो। इस आज्ञा को शिरोधार्य समझकर अभिवादन पर्यन्त नव नारायण फिर बदरिकाश्रम में जा विराजे।

मत्स्येन्द्रनाथ की उत्पत्ति—

बदरिकाश्रम में आने के बाद नवों भ्राताओं ने भगवान् श्री महादेव जी की आज्ञानुसार कुछ काल भेद से जहां-तहां अवतार लेने का दृढ़ निश्चय किया। ठीक इसी निश्चय के अनुकूल सर्वप्रथम अपने आठ भ्राताओं से मानवीय कवि नारायण जी वियोगित हुए। जिन्होंने भृगुवंशीय एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण के गृह में अवतार धारण किया। माता-पिता को पुत्र प्राप्ति से असाधारण आनन्द की प्राप्ति हुई। लेकिन ईश्वर का कुछ और ही विधान था, जब पिता ने ज्योतिष-शास्त्र का अवलोकन किया, तब उसे मालूम हुआ कि पुत्र अनिष्टकारक गण्डान्त नक्षत्र में पैदा हुआ है। अतएव उसने अपने अनिष्ट के भय से तुरन्त पुत्रोत्पत्ति के सुख का परित्याग कर लड़के को सच्चे समुद्र में डाल दिया। जिसको जल में गिरते ही एक स्थूलकाय मत्स्य ने निगल लिया। परन्तु परमात्मा की गति अत्यन्त ही विचित्र एवं अगम्य है। मारने वाले से बचाने वाला बहुत प्रबल है। यही कारण हुआ कि विधाता की रक्षा से रक्षित हो वह लड़का काल के मुख में न जाकर मत्स्य के उदर में ही आसनासीन हो घोर तप करने लगा। इस तरह उसके अनेक वर्ष व्यतीत हो गये। उसके कठिन तप से भगवान् महादेव जी का हृदय दया से परिपूर्ण हो गया।

ठीक इसी समय किसी एकान्त स्थल में बैठे हुए भगवान् कैलाशनाथ जी से मां पार्वती जी ने कहा कि महाराज कृपा करो और मुझे अमरकथा सुनाओ, जिससे मैं भी आपकी तरह अजरामर हो बार-बार के जन्म मरण से रहित हो जाऊँ। यह सुनकर श्री महादेव जी ने कहा कि हे पार्वति! अमरकथा भी कोई कथा है, तुझे इस बात का ज्ञान कैसे हुआ? क्योंकि हमने आजतक अमरकथा का सुनाना

तो दूर रहा, उसका तुझे नाम तक भी नहीं बतलाया है। तब देवी ने कहा कि एक दिन नारद मुनि कैलाश में आये थे। वे आते ही आपकी रुण्डमाला की स्तुति करने लगे। तब मैं सोचने लगी कि इतने रुण्ड किसके हैं? बल्कि इस बात का निश्चय करने के लिए मैंने नारद जी से ही प्रश्न किया। उन्होंने बतलाया कि ये रुण्ड किसी और के नहीं, केवल तुम्हारे ही हैं। तुम्हारा अनेक बार जन्म-मरण हुआ है। अतः प्रत्येक जन्म के शरीर के सिर को श्री महादेव जी ने अपनी प्रसन्नता के लिए माला में धारण किया है। तब मैंने पूछा महाराज! यह जन्म-मरण मेरा अनेक बार क्यों होता है? उन्होंने स्पष्ट सुनाया कि अमरकथा का श्रवण न करना ही तुम्हारे बार-बार जन्म मरण का कारण है। अतः यदि इससे छुटकारा पाना है तो श्री महादेव जी से अमरकथा का श्रवण करो। श्री महादेव जी अमरकथा के प्रभाव से ही उस दोष से विमुक्त हुए सदाशिव कहलाते हैं। इस प्रकार अमरकथा का निरूपण कर नारद जी तो इन्द्रपुरी को चल गये। मैं उसी दिन से कथा श्रवण-योग्य स्थान ढूँढ़ती रही। सौभाग्यवश यह अनुकूल स्थान भी प्राप्त हो गया है। इसलिए अवश्य मेरे ऊपर कृपा करें, परन्तु प्रथम आपसे मेरी यह अभ्यर्थना है कि जब आप ऐसी अमूल्य अद्वितीय वस्तु अच्छी तरह जानते थे तो आज तक आपने मेरे से गुप्त क्यों रखा? पार्वतीजी का यह नम्रता-युक्त वाक्य सुनकर श्री महादेव जी ने कहा कि इसके पूर्व तू इस विद्या की अधिकारिणी नहीं थी। इसीलिये इस गोप्यवस्तु को आज तक तेरे से छिपाकर रखा है। अब तू अधिकारिणी हुई है। अतः अब हम तेरे को अमर-कथा सुनायेंगे। इस प्रकार पार्वती जी को सन्तोष देकर श्री महादेव जी समुद्र तट पर आये और अपने कृत्रिम शब्दघोष से समीपस्थ पशु-पक्षियों को दूर कर पार्वती जी को अमर-कथा सुनाने लगे। कुछ देर में आपका यह कार्य समाप्त हो गया। ठीक उसी समय एकाएक आपकी दृष्टि समीपस्थ जल में स्थित बालक को निगल जाने वाले पूर्वोक्त मत्स्य के ऊपर पड़ी। इसी के अन्दर कविनारायण अवतारी बालक विराजमान है। यह दृढ़ निश्चय कर आपने आकर्षण मन्त्र का प्रयोग किया, जिससे आकृष्ट हुआ वह मत्स्य बाहर निकला तथा श्री महादेव जी के तेज से स्तम्भित हो तटपर स्थित रह गया और उसके मुख से एक असाधारण रूपवान बालक का निःसरण हुआ। वह निकलते ही सम्मुखीय स्थल पर विराजमान श्री महादेव जी और पार्वती जी को नमस्कार कर उनके चरणों में गिर पड़ा। यह देख श्री महादेव जी अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा समस्त वृत्तान्त जानते हुए भी उससे उसका समाचार पूछने लगे। उसने

अपने आनुभविक ज्ञान से समग्र वृत्तान्त सुना डाला। इससे और भी प्रसन्न हो श्री महादेव जी ने पार्वती जी से कहा कि यह तुम्हारा पुत्र है। इसे ग्रहण करो और पुत्रकी जेष्टाओं से संस्कृत करो। यह सुन भगवती भवानी ने उसको गोद में बिठा लिया और मुखचुम्बनादि क्रियाओंके द्वारा स्कन्द की तरह उससे अत्यन्त प्रेम किया। तदनन्तर कहा कि पुत्र मत्स्येन्द्र जगतमें तेरा यश प्रख्यात होगा। निश्चित रूप से पुत्र होने के कारण हमारा भी यश विस्तृत करता हुआ तू संसार में निर्भयता के साथ विचरते रहना। यह कहकर दोनों अपने अभीष्ट स्थान को चले गये।

इधर वह लड़का भी उनके आशीर्वाद से प्रसन्न होकर समुद्र के तटस्थ प्रान्तों में भ्रमण करने लगा। इधर उधर बाई एक मास पर्यन्त घूमने के बाद एक दिन पूर्वी समुद्र तटस्थ कामाक्षादेवी के स्थान में पहुँचा। यहां उसने कुछ दिन की कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हो देवी का व्रत ग्रहण किया और श्री महादेव जी को और भी प्रसन्न करने के लिए कठिन तपश्चर्या में संलग्न होने का दृढ़ संकल्प किया। संकल्प ही नहीं, इस कार्य को पूरा करने के अभिप्राय से वहां से बदरिकाश्रम को प्रस्थान कर दिया। कुछ दिन में यह यात्रा भी समाप्त हो गई। यहां एक अच्छा निर्विघ्न पर्वत देखकर उसने तप करना आरम्भ किया। अर्थात् पार्वती जी सहित श्री महादेव जी को ध्यान में रखते हुए मुख ऊपर किये हुए दाहिने पैर के अंगूठे पर समस्त शरीर का भार रखकर दोनों हाथों से बद्धाञ्जलि हो नेत्रों की समस्त चञ्चलता को दूर कर उसने वायु आहार के अभ्यास द्वारा पूरे बारह वर्ष व्यतीत किये। शीतोष्णता के अत्यन्त कठिन कष्ट को अपने शरीर पर धारण किया। यही नहीं, उसने इस प्रकार घोर तप किया कि समीपस्थ भूमि पर तृण उगने से उसका शरीर तो तृण से आच्छादित हो ही गया था, किन्तु शरीर सूखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो अस्थि ही अवशेष रह गई हो। इस तरह जब बारह वर्ष पूरे हो चले तो उसकी तपश्चर्या का असाधारण फल तैयार हुआ। जिसकी प्रेरणा से प्रेरित हुए नारद जी को बदरिकाश्रम की यात्रा करने की इच्छा हुई। अतः कुछ ही समयमें जहां बालक कठिन तपस्या में तत्पर था, वे अकस्मात् उसी मार्ग से आ निकले। चलते-चलते उनकी दृष्टि कुछ-कुछ दीखने वाले तपस्वी पर पड़ी। उसका तृण से आच्छादित शुष्क शरीर देखते ही नारदजी कुछ विस्मित से हुए। आभ्यान्तरिक रीति से उसे नमस्कार करने के साथ उनके जनक माता पिता को हार्दिक असंख्य धन्यवाद देने लगे और उसके तप का वर्णन करने के अभिप्राय से अमरापुरी को प्रस्थान कर गये। वहां पहुँचते ही इन्द्र के सम्मुख बालक का अखिल वृत्तान्त प्रकट कर नारदजी ने इन्द्र को भी उसके दर्शन करने को बाध्य किया।

नारद जी के शब्दों में सत्यता का भास करते हुए वह उसी समय नारद जी के साथ घटनास्थल पर पहुँचे। महाकाष्ठ में परिणत उस बालक के दर्शन कर अत्यन्त विस्मित हुए तथा अन्य देवताओं से कहने लगे कि आज तक हमने ऐसा तपस्वी नहीं देखा है। अतएव जिसने ऐसे पुत्र रत्न को उत्पन्न किया है उन्हें अनेक हार्दिक धन्यवाद है। इस प्रकार आश्चर्य प्रकट कर धन्यवाद देने के बाद इन्द्र अपने स्थान को चले गये। इसके पश्चात् ब्रह्मा जी को इसकी सूचना मिली। वे भी तपस्वी का दर्शन करने के लिए बदरिकाश्रम पहुँचे। बालक का घोर तप देखकर असंख्य धन्यवाद देने लगे। अनेक हर्षवर्धक वाक्यों का प्रयोग कर वे भी ब्रह्मपुरी को चले गये। परन्तु तपस्वी का घोर तप देखकर ब्रह्मा जी का हृदय करुणा से परिपूर्ण हो गया था। अतएव अनेक कार्य में व्यग्र रहते हुए भी ब्रह्मा जी का चित्त तपस्वी के दृश्य को विस्मृत नहीं करता था। यहाँ तक कि एक दिन ब्रह्माजी ने उस बालक को इस महान् कष्ट से छुटकारा दिलाने के उद्देश्य से विष्णुपुरी जाकर विष्णु जी को पूरा वृत्तान्त कह सुनाया। तब तो इस दृश्य को देखने के लिए विष्णु जी भी उत्कण्ठित हुए और कुछ ही देर में ब्रह्माजी के सहित बदरिकाश्रम में आये। बालक को देखते ही विष्णु जी विस्मित हो ब्रह्मा जी से कहने लगे कि श्री महादेव जी को बुलाकर इसको अब तो तप से मुक्त करना चाहिए। ब्रह्मा जी पहले से ही तैयार थे। अतः उन्होंने कहा कि चलिये आप और हम दोनों ही कैलास में चल कर इस प्रस्ताव को प्रस्तुत करेंगे। अतः दोनों महानुभाव कैलास में पहुँचे तथा उक्त तपस्वी का समस्त वृत्तान्त सुनाने लगे। साथ ही उसे मुक्त करने की प्रार्थना करने लगे। श्री महादेव जी ने उनका प्रस्ताव स्वीकृत कर घटनास्थल पर चलने की तैयारी कर दी। थोड़ी ही देर में स्वकीय वाहनों पर आरूढ़ हो तीनों देव बदरिकाश्रम में आये। बालक का महा घोर तप देख श्री महादेव जी अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे कि हे तपस्विन्! अब तुम्हारा तप पूर्ण हुआ, हम अतीव प्रसन्न हैं। तुम हमसे कुछ वरदान माँगो। यह वचन सुनकर तपस्वी बालक ने ऊपर दृष्टि डाली, एवं तीनों महानुभावों को उपस्थित देखकर आभ्यान्तरिक रीति से नमस्कार कर कहने लगा कि हे दयासागर दीनबन्धो! यदि आप सचमुच प्रसन्न हैं और वर देना चाहते हैं तो मैं और कुछ न माँगकर आपसे यही वर माँगता हूँ कि आप मुझे अपना स्वरूप प्रदान कर दें। अर्थात् मुझे अपने वेश से विभूषित कर दें।

यह सुनकर तीनों देव परस्पर में एक-दूसरे की ओर देखकर मुस्कराने लगे। तब

श्री महादेव जी ने कहा कि कोई अन्य वर मांगो, क्योंकि तुम्हारा अवतार जिस विशेष कार्य पूर्ति के लिए हुआ है, तुम उसको इस कठिन व्रत के अवलम्बन से भूल गये हो। अतः उस कार्य-सिद्धि के अनुकूल किसी अन्य वर की याचना करो तो अत्युत्तम होगा। उसने कहा, आप ठीक कह रहे हैं, लेकिन मैं आपके स्वरूप से सुशोभित होकर उस उद्देश्य की पूर्ति करना चाहता हूँ। बालक का यह निश्चय देख श्री महादेव जी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वे तथास्तु कहकर उक्त दोनों देवों से विदा हो, तपस्या से विमुक्त तपस्वी बालक के साथ कैलाश आये। अगले दिन अपना वेष स्वीकृत कराने लगे। प्रथम सिर में विभूति डालकर विभूति-स्नान कराया। एवं स्नान कराने के साथ-साथ उसका महत्व भी समझाया कि हे शिष्य! हमने जो तेरे सिर पर डाला है, यह भस्म अर्थात् मृत्तिका है। अतः आज से तुम पृथ्वी हो जाना। जिस प्रकार यह पृथ्वी अच्छी या बुरी रखने से नाराज नहीं होती, ठीक उसी प्रकार कोई भी सांसारिक मनुष्य अपने ज्ञान से या अज्ञान से तुम्हारे साथ अच्छा या कुत्सित व्यवहार करे, तुम पृथ्वी की तरह कभी प्रसन्न और अप्रसन्न न होकर सदा एक-सा बने रहना। इस भस्मी डालने के द्वारा हमारा यह अभिप्राय भी समझना कि अग्नि संयोग से पहले जिसकी यह भस्मी बनी है वह काष्ठ था। जिसमें अनेक गुण थे और उसकी व्यावहारिकता की अनेक वस्तु भी बन सकती थीं, परन्तु अग्नि संयोग होने पर काष्ठ की यह दशा हो गई कि इसके लिखते गुण न आने कहां चले गये। ठीक इसी प्रकार हमारे संयोग से पहले यह सम्भव है तुम्हारे शरीर में अनुचित कृत्यों का प्रवेश रहा हो और तुम अनेक सांसारिक व्यापार भी कर सकते थे, परन्तु हमारे संयोग से ज्ञान प्राप्त कर अब ऐसा हो जाना कि उस ज्ञानरूप अग्नि से काष्ठ की तरह उन कुत्सित कृत्यों को भस्मसात् कर डालना। तदनन्तर श्री महादेव जी ने उसे जल-स्नान कराया और साथ-साथ उसका भी अभिप्राय समझाया कि हे शिष्य! जिसको तुम्हारे ऊपर छोड़ रहे हैं इसको बर्षाने वाला मेघ समझना। इसका अभिप्राय यह है कि तुम आज से इसके बर्षाने वाला मेघ बनजाना। जिस प्रकार यह मेघ जल-स्थल में समान दृष्टि से बर्षता है इसी प्रकार सांसारिक सभी श्रेणी के लोगों से तुम समान दृष्टि बर्ताव करना। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु धारण कराने का ठीक-ठीक अभिप्राय समझा कर श्री महादेव जी ने अपने कुण्डल आदि कई एक चिह्न उसे समर्पित किये तथा उसे मत्स्येन्द्रनाथ नाम से प्रसिद्ध किया और पूर्ण अधिकारी निश्चित कर उनको योग-क्रियाओं से प्रेरित किया।

अतएव श्री महादेव जी जैसे गुरु और

प्रणव रूप भगवान् सदाशिव

श्री ओमप्रकाश पालीवाल

"प्र" नाम है प्रकृति से उत्पन्न संसार रूपी महासागर का। प्रणव, इससे पार करने हेतु दूसरी "नव" नाव है। अतः इस ओंकार को प्रणव की संज्ञा दी है। ॐकार अपने जप करने वाले साधक से कहता है—"प्र" प्रपञ्च "न" नहीं है, "व" तुम लोगों के लिए। अतः इस भाव को लेकर भी ज्ञानी लोग "ओदम्" को "प्रणव" नाम से जानते हैं। इसका दूसरा भाव इस प्रकार है—

प्रकर्षेण न-नयेत। वः युष्मान मोक्षम्
इति वा प्रणवः।

अर्थात् यह तुम सब उपासकों को बलपूर्वक मोक्ष तक पहुँचा देगा। प्रणव साधक को "नव" अर्थात् नवीन (शिव स्वरूप) कर देता है, अतः विद्वान पुरुष उसे प्रणव के नाम से जानते हैं।

प्रणव के दो भेद बताये गये हैं, स्थूल एवं सूक्ष्म। एकाक्षर रूप जो "ॐ" है, उसे सूक्ष्म प्रणव जानना चाहिए और "नमः शिवाय" इस पञ्चाक्षर वाले मन्त्र को स्थूल प्रणव समझना चाहिए। गीता के अनुसार—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म,
व्याहरन मामनुस्मरन।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

मत्स्येन्द्रनाथ जैसे अद्वितीय अधिकारी शिष्य के कार्य में विलम्ब ही क्या हो सकता था? अतः वे कुछ ही दिन में असाधारण योगवित् बनगये। तत्पश्चात् श्री महादेवजी ने मध्यम तथा कनिष्ट अधिकारी पुरुष को किस ढंग से योग-क्रियाओं में प्रविष्ट कराना चाहिए उन्हें समस्त भेद भी बतलाया। अर्थात् आपने कहा कि हे शिष्य! उत्तम अधिकारी तो केवल अभ्यास वैराग्य की ही सहायता से योग-पारंगत हो सकता है यह बात तुमसे छिपी नहीं है। क्योंकि तुम उत्तम अधिकारी हो, परन्तु मध्यम अधिकारी को योगवित् बनाना हो तो उसके लिए तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ही उत्तम समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त यदि कनिष्ठ अधिकारी को भी तुम योग-दीक्षा प्रदान करना उचित समझते हो तो उसे यम-नियमादि आठ उपायों द्वारा ही योग-निपुण बना सकोगे। मत्स्येन्द्रनाथ जी ने यह तत्व बड़ी शीघ्रता से समझ लिया। अतः शिष्य की यह दक्षता देखकर महादेव जी अतीवानन्दित हुए और उन्हें साबरी विद्या का मर्म समझने लगे। मंत्रात्मक साबरी विद्या सीख लेने के बाद वे वातारत्न, कामारत्न, पर्वताख्य, आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, गरुड़ास्त्र, दानवास्त्र, मानवास्त्र इत्यादि अनेक आस्त्रिक विद्या में भी निपुण हो गये।

यः प्रयाति त्यजन् देहं
स याति परमां गतिम् ॥

जीवन-मुक्त पुरुष व योगी के लिए सूक्ष्म प्रणव के जप का विधान है।

सूक्ष्म प्रणव के भी ह्रस्व और दीर्घ के भेद से दो रूप जानने चाहिए। अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, शब्द, काल और कला इनसे युक्त जो प्रणव है उसे 'दीर्घ' प्रणव कहते हैं, यह योगियों के ही हृदय में स्थित होता है। मकार पर्यन्त जो ओम् है, वह अ उ म्—इन तीन तत्वों से युक्त है। इसी को 'ह्रस्व प्रणव' कहते हैं। 'अ' शिव है, 'उ' शक्ति है और मकार इन दोनों की एकता है। यह शिवस्वरूप है।

एकाक्षराय रुद्राय
अकारायात्मरूपिणे।
उकारायदिदेवाय
विद्यादेहाय वै नमः ॥
तृतीयाय मकाराय
शिवाय परमात्मने।
सूर्याग्निसोमवर्णाय
यजमानाय वै नमः ॥

भूतभावन भगवान् शिव ने अपने स्वरूप भूत मन्त्र का उपदेश किया जो ओंकार रूप में प्रसिद्ध है, यह महा मङ्गलकारी मन्त्र है। सर्वप्रथम महेश्वर के मुखारविन्दु से ओंकार (ॐ) प्रकट हुआ, जो उनके स्वरूप का बोध कराने वाला है। ओंकार वाचक है और शिव वाच्य है। यह मन्त्र शिव का अपना ही स्वरूप है, प्रतिदिन ओंकार का स्मरण करने से भूत-भावन भगवान् शङ्कर का ही स्मरण होता है। श्रुति के अनुसार--

नमः प्रणववाच्याय
नमः प्रणवलिङ्गिने।
नमः सृष्टयादिकर्त्रे च
नमः पञ्चमुखाय ते ॥

भगवान् शिव पञ्चमुख वाले है, उनके उत्तरवर्ती मुख से, अकार का पश्चिम मुख से, उकार का, दक्षिण मुख से, मकार का पूर्ववर्ती मुख से, बिन्दु का तथा मध्यवर्ती मुख से नाद का प्राकट्य हुआ। इन सभी अवयवों से एकी-भूत होकर यह प्रणव ॐ नामक एक अक्षर हो गया। यह नाम रूपात्मक सारा जगत् तथा वेद उत्पन्न स्त्री पुरुष वर्ग रूप दोनों कुल इस प्रणव मन्त्र से व्याप्त है। यह मन्त्र शिव और शक्ति दोनों का बोधक है, इसी से पञ्चाक्षर मन्त्र की उत्पत्ति हुई है, जो शिव के सकल रूप का बोधक है वह अकारादि क्रम से और मकारादि क्रम से क्रमशः प्रकाश में आया है। (ॐ) नमः शिवाय यह (पञ्चाक्षर मन्त्र है इस पञ्चाक्षर मन्त्र मातृका वर्ग प्रगट हुए है जो पांच भेद वाले है (अ इ उ ऋ लृ) उसी से शिवोमन्त्र सहित त्रिपदा गायत्र का प्राकट्य

हुआ है। उस गायत्र से सम्पूर्ण वेद प्रकट हुए हैं और उन वेदों से करोड़ों मन्त्र निकले हैं।

(४८) इस एकाक्षर मन्त्र में तीनों गुणों से अतीत, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, शक्तिमान्, सर्वव्यापी प्रभु शिव प्रतिष्ठित हैं। ईशान आदि जो सूक्ष्म एकाक्षर रूप ब्रह्म है, वे सब 'नमः शिवाय' इस मन्त्र में स्थित हैं। सूक्ष्म षडक्षर मन्त्र में पञ्चब्रह्म स्वरूपधारी साक्षात् भगवान् शिव स्वभावतः वाच्य-वाचक भाव से विराजमान हैं। अप्रमेय होने के कारण शिव वाच्य हैं और मन्त्र उनका वाचक माना गया है। शिव और मन्त्र का यह वाच्य और वाचक भाव अनादि काल से चला आ रहा है। जैसे यह घोर संसार-सागर अनादि काल से प्रवृत्त है, उसी प्रकार भगवान शिव संसार-बन्धन से छुड़ाने वाले अनादि काल से ही नित्य विराजमान हैं। जीवों का संसार-सागर से उद्धार करने वाले स्वामी अनादि सर्वज्ञ परिपूर्ण सदाशिव विराजमान हैं। वे प्रभु आदि, मध्य और अन्त से रहित हैं। स्वभाव से ही निर्मल हैं तथा सर्वज्ञ एवं परिपूर्ण हैं। उन्हें शिव नाम से जानते हैं। यह पञ्चाक्षर मन्त्र उनका अभिधान (वाचक) है और वे शिव अभिधेय (वाच्य) हैं। वाचक और वाच्य रूप होने के कारण परम शिवरूप यह मन्त्र सिद्ध माना गया है। (ॐ नमः शिवाय) यह जो षडक्षर शिव वाचक है, इतना ही शिवज्ञान है और इतना ही परम-पद ही शिव का विधि-वाक्य है, अर्थ-वाक्य है। षडक्षर मन्त्र में छहों अंगों सहित सम्पूर्ण वेद आठ शास्त्र विद्यमान हैं, अतः इसके समान कोई दूसरा मन्त्र नहीं है।

यह पञ्चाक्षरी समस्त श्रुतियों की सिर-मौर तथा सम्पूर्ण शब्द समुदाय की सनातन बीज-रूपिणी है। यों तो इस मन्त्र के सभी अक्षर बीज-रूप हैं, तथापि उनमें दूसरे अक्षर को इस मन्त्र का बीज समझना चाहिए। दीर्घ-स्वरपूर्वक जो चौथा वर्ण है उसे कीलक और पांचवें वर्ण को शक्ति समझना चाहिए। इस मन्त्र के वामदेव ऋषि और पंक्ति छन्द है। वरानने! मैं शिव ही इस मन्त्र के देवता हूँ। वरारोहे! गौतम, अत्रि, विश्वामित्र, अंगिरा और भरद्वाज—ये नकारादि वर्णों के क्रमशः ऋषि माने गये हैं। गायत्री, अनुष्टुप, त्रिष्टुप, बृहती और विराट—ये क्रमशः पांचों अक्षरों के छन्द हैं। इन्द्र, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा और स्कन्द—ये क्रमशः उन अक्षरों के देवता हैं। वरानने! मेरे (शिव) पूर्व आदि चारों दिशाओं के तथा ऊपर के पांचों मुख इन नकारादि अक्षरों के क्रमशः स्थान हैं। पञ्चाक्षर मन्त्र का पहला अक्षर उदात्त है। दूसरा और चौथा भी उदात्त ही है, पांचवां स्वरित है और तीसरा अक्षर अनुदात्त माना गया है। इस पञ्चाक्षर मन्त्र के मूल विद्या शिव, शैव, सूत्र तथा पञ्चाक्षर नाम जाने। शैव (शिव सम्बन्धी) बीज प्रणव मेरा (शिव) का विशाल

हृदय है। मकार सिर कहा गया है, मकार शिखा है, 'शि' कवच है, 'वा' नेत्र है और 'य' कार अस्त्र। इन वर्णों के अन्त में अङ्गों के चतुर्थ्यन्त रूप के साथ क्रमशः नमः स्वाहा, वषट् हुं, वौषट् और फट् जोड़ने से अङ्गन्यास होता है।

इस प्रकार ॐकार भगवान शिव के मुख से उत्पन्न होने के कारण शिव स्वरूप का बोधक है। यह एकाक्षर ॐकार रूप ब्रह्म है, जो शिव है वही प्रणव है, जो प्रणव है वही शिव है। कहा भी है—

अस्मात् पंचाक्षरं जे,
बोधकं सकलस्य तत्।
अकारादिक्रमेणैव,
नकारादि यथाक्रमम्॥

अर्थात् इसी प्रणव से पञ्चाक्षर उत्पन्न हुआ अर्थात् अकार से नकार, उकार से मकार, मकार से शि, बिन्दु से वा और नाद से यकार उत्पन्न हुआ।

शिव प्रणव स्वरूप है, प्रणव के सिर पर चन्द्रबिन्दु होने के कारण प्रणव चन्द्रशेखर है, इसी से शिव को चन्द्रशेखर कहते हैं। प्रणव वेद का बीज मन्त्र है, मनु के अनुसार ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद से 'अ' 'उ' 'म' ये तीन अक्षर लेकर प्रणव बना है। एकाक्षर (ॐ) परब्रह्म। जबाल उपनिषद् में कहा है—

"रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे"

रुद्र तारने वाला ब्रह्म है।

प्राणीमात्र श्वास-प्रश्वास द्वारा हंस मन्त्र का उच्चारण करता है। इस मन्त्र में भी सदा प्रणव का ही जाप होता है। इस तथ्य को भगवान कार्तिकेय स्वामी वामदेव के प्रति कहते हैं—

प्रतिलोमात्मके हंसे,
वक्ष्यामि प्रणवोद्भवम्।
तव स्नेहाद् वामदेवः,
सावधानतया शृणु॥
व्यञ्जनस्य सकारस्य,
हकारस्य च वर्जनात्।
ओमित्येव भवेत् स्थूलो,
वाचकः परमात्मनः॥

अर्थात् हे वामदेव! हंस-मन्त्र के प्रति प्रतिलोम (विपरीत) 'सोऽहं' मन्त्र से प्रणव की प्राप्ति के विषय में मैं तुमसे कहता हूँ, सावधान होकर सुनो। व्यञ्जन (हल्) 'स' कार और 'ह' कार के वर्जन से 'ॐ'। इस प्रकार परमात्मा का वाचक स्थूल अक्षर होता है।

इस प्रणव मन्त्र को ही तारक मन्त्र कहते हैं। क्योंकि इस (प्रणव ॐ) मंत्र द्वारा प्राणिमात्र भव-सागर से तरते हैं। भगवान सदाशिव स्वयं कहते हैं—

एनमेवेहि देवेशि
सर्वमन्त्र शिरोमणिम् ।
काश्यामहं प्रदास्यामि
जीवानां मुक्ति हेतवे ॥

अर्थात्—हे देवि ! सर्व मंत्रों के शिरोमणि इस ॐकार को ही मैं काशी में प्राण त्याग करने वाले जीवों को मुक्ति हेतु देता हूँ।

शास्त्रों में प्रणव शिव तथा जीवात्मा की एकता का वाचक बताया है—

जीवात्मनो मया सार्धं-
मैक्यस्य प्रणवस्य च ।
वाच्यवाचक भावोऽत्र
सम्बन्धः समुदीरितः ॥

अर्थात्—प्रणव मेरी (शिव) और जीवात्मा की एकता का वाचक है। अतः इस एकता का प्रणव के साथ वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध है।

यह ॐकार समस्त कामनाओं व मोक्ष को देने वाला है। योगीजन नित्य इसी को ध्याते हैं कहा भी है—

ॐकारं बिन्दु संयुक्तं
नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्ष दञ्चैव
ॐकाराय नमो नमः ॥

भगवान् पतञ्जलि जीने भी उस ईश्वर को "तस्य वाचक प्रणवः" कह करके सम्बोधित किया है। तथा—ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

अर्थात्—प्रणव के जप से आत्मस्वरूप की प्राप्ति तथा सारे विघ्नों का नाश होता है। इस प्रणव रूप शिव का सदा जप और ध्यान करने वाला महायोगी समाधि में स्थित होकर शिव स्वरूप हो जाता है। शिव पुराण के अनुसार—

प्रणवो वाचकस्तस्य
शिवस्य परमात्मनः ।
शिवरुद्रादिशब्दानां
प्रणवो हि परः स्मृतः ॥

अर्थात्—परम कल्याण रूप परमात्मा का वाचक ॐकार है। यह ॐकार 'शिव' 'रुद्र' इत्यादि सारे नामों में श्रेष्ठ है। शिव लिङ्ग ॐकार स्वरूप है, और ॐकार—सदृश आकार में ही लिङ्गार्चन होता है। यजुर्वेद में भी आया है, "तारयति संसारमिति तारः प्रणवः तस्मैद्राय नमः।

अर्थात्—संसार से तारने वाले ॐकार रूप रुद्र को नमस्कार है।

श्रुति के अनुसार भगवान् सदा शिव, जगन्नियन्ता जगदीश्वर और महेश्वर शिव के पर्याय शब्द हैं—

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय,
तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।

प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचांतकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥

अर्थात् एक ही रुद्र है, जोकि इन सब सब लोकों को अपनी शक्ति के वश में रखता है। अतएव वह ईश्वर है, उसी की सब उपासना करते हैं। सब लोकों को उत्पन्न कर अन्तकाल में संहार भी करता है, वही सबके भीतर अन्तर्यामी रूप से स्थित है, यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शिवमय है।

इस प्रकार ओंकार स्वरूप परम ज्योति भगवान सदाशिव ही परात्पर ब्रह्म है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों देव (इसी परम ज्योति ॐ) में स्थित हैं। कहा भी है—

भूर्भुवःस्वरिमे लोकाः,
सोमसूर्याग्नि देवताः।
यस्या मात्रासु तिष्ठन्ति,
तत्परमज्योति ॐमिति ॥

त्रयः कालास्त्रयो वेदा-
स्त्रयो लोकास्त्रयो स्वराः।
त्रयो देवाः स्थितः यत्र,
तत्परमज्योति ॐमिति ॥

अर्थात् जिसकी मात्राओं में भूः, भुवः, स्वः, तीनों लोक और चन्द्र, सूर्य, अग्नि देवता स्थित है। वही परम ज्योति ओम् है, जिसमें भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल ऋग, यजु और साम—तीनों वेद स्वर्ग, पाताल और मृत्युलोक (पृथ्वी), तीनों स्वर तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देव स्थित हैं, वही परम ज्योति ओम् है।

—० ध्यान-योग ०—

जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टी से लिप्त रहने के कारण छिपा रहता है अपने असली रूप में प्रकट नहीं होता। परन्तु वही जब मिट्टी आदि को हटा कर धो-पोंछ कर साफ कर लिया जाता है तब वह अपने असली रूपमें चमकने लगता है। उसी प्रकार इस जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप अत्यन्त स्वच्छ होने पर भी अनन्त जन्मों के किये हुए संस्कारों से मलिन हो जाने के कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता। लेकिन जब मनुष्य ध्यान-योग के साधन द्वारा समस्त मलों को धोकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप को भली-भांति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है।

—उपनिषद्

वसन्त तिलका-वृत्तम्—

❦ श्री गुरु-महिमा ❦

* श्री चन्दनलाल पाराशर संस्कृत विभाग आर.बी.एस. कालेज आगरा

श्री चन्द्रमोहन गुरुन् प्रणमामि नित्यम्,
विद्याविलास विमलान् धृत सर्वशास्त्रान् ।
शान्तान्, शिवान्, निरत नित्यविभून् प्रभून् स्वान्,
योगांग-साधित-महोन्नत सर्वधर्मान् ॥

यो योगि मौलि-मणि-भूषित पाद पद्मः,
सत्यं शिवं सततमातनुते शिवोऽसौ ।
यस्य क्रिया निखिल मानव मङ्गलाय,
धीरो गुरुर्जयति 'चन्दनलाल' पूज्यः ॥

सिद्ध-प्रसिद्ध-चरणाङ्कित-पूतभूमिः,
सिद्धा-सुदा सकल-लोक, पवित्र कीर्तिः ।
श्री रामलाल गुरुवर्य्य-तपो दधाना,
संराजते हृदि सदान-सदानना मे ॥

तत्र स्थितान् विमल कीर्तिमतो गुरुन् स्वान्,
आयान्ति भान्ति च जनाः सु-यशोलभन्ते ।
द्रष्टुं, पवित्रयितुमात्मनमत्र सर्वे,
भक्त्याऽनुरूप वरवारणमावहन्ति ॥

धन्या धराऽस्य भवनस्य तपः-प्रपूता,
या योगिराज, चरणान्ननु सेवते सा ।
वैरं विहाय विचरन्ति समेऽत्र जीवाः,
श्री रामलाल गुरु-गौरवमेव सर्वम् ॥

मोक्ष का मूल साधन--वैराग्य

* ब्रह्मचारी श्री दासलाल शर्मा

मोक्ष का मूल हेतु विवेक तथा दृढ़ वैराग्य कहा गया है। वैराग्य कहने में विवेक भी समझ लेना चाहिए। क्योंकि बिना विवेक के वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। विवेक वैराग्य का कारण है। 'अत्यन्त वैराग्यवतः समाधि' अत्यन्त वैराग्यवान् को ही समाधि मिलती है। ब्रह्म-लोक से लेकर मृत्यु-लोक तक के समस्त विषय-भोगों से विरक्ति तथा इन्द्रियों के शब्द स्पर्श आदि पञ्च विषयों में दोष दृष्टि देखते हुए इनसे दूर रहने तथा इनमें त्याग-वृत्ति का होना वैराग्य है। इस संसार के अनित्य तथा अनात्म वस्तुओं में तथा गृह, सुत, दारा आदि में किसी भी प्रकार का मोह व आसक्ति न रखना। अपने इस नश्वर तथा भौतिक शरीर में आत्म-बुद्धि न रखना वैराग्य का परिणाम है। देहासक्ति ही बन्धन का हेतु है। जब तक हम इस नश्वर शरीर को ही आत्मा मान बैठेंगे, हम बन्धन से मुक्त नहीं हो सकते।

वैराग्यवान् को जन्म-मरण आदि का किसी भी प्रकार से भय नहीं होता। इस संसार की नश्वरता आत्म-अनात्म, नित्या-नित्य वस्तुओं का जब तक सम्यक् ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक दृढ़ व स्थायी वैराग्य उत्पन्न नहीं हो सकता। बिना त्याग व वैराग्य के चाहे कोई वेदों का पारङ्गत विद्वान ही क्यों न हो भव-बन्धन भंजन करने में समर्थ नहीं है।

महापुरुषों के सानिध्य से सत्संग, गुरु-पदेश, ब्रह्मवत्ता महात्माओं के अमृत वचन एवं सत शास्त्रोंके स्वाध्याय से दृढ़ एवं स्थायी वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

वैराग्य तथा विवेक इन दोनों को मुमुक्षु के लिए पक्षी के दोनों परों के समान कहा गया है। इन दोनों के बिना एक से कोई भी मुक्ति रूपी महल की अटारी पर नहीं चढ़ नहीं सकता। श्रीमद्भगवद् गीता में भी अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण ने विवेक और वैराग्य को मोक्ष का साधन बताया है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्य-
मनहंकार एव च।
जन्म-मृत्यु जरा-व्याधि,
दुःख दोषानुदर्शनम्॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः,
पुत्रदार गृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्व-
मिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥

इन्द्रियों के अर्थों (विषयों) से वैराग्य एवं अहङ्कार का अभाव एवं जन्म-मृत्यु, जरा और रोग आदि में दुःख-दोषों का बारम्बार विचार करना। पुत्र, स्त्री, घर और धनादि में आसक्ति का अभाव और ममता का न होना। प्रिय, अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना अर्थात् मन के अनुकूल तथा प्रतिकूल के प्राप्त हो जाने पर हर्ष-शोकादि विकारों का न होना।

श्री भर्तृहरि जी ने भी अपने वैराग्य-शतक में वैराग्य का महत्व बतलाते हुए कहा है—

न सुखं देवराज्यस्य न सुखं चक्रवर्तिनः
यादृशं वीतरागस्य मुनेरेकान्त शालिनः।

अर्थात् जो सुख वीतरागी एकान्त-सेवी मुनि को प्राप्त है, वह न चक्रवर्ती राजा को है और न इन्द्र को।

जब तक हमारे मन में वासनायें एवं तृष्णायें रहेंगी, मन की एकाग्रता नहीं हो सकती। चित्त-वृत्तियों के निरोध का उपाय बतलाते हुए महर्षि पतञ्जलि जी ने अपने योग-दर्शन में बतलाये हैं—

अभ्यास वैराग्याभ्याम् तन्निरोधः

अर्थात् चित्त-वृत्तियों का अभ्यास एवं वैराग्य से निरोध करना चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी मन को नियन्त्रित करने का उपाय बतलाया है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते

अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन में नियन्त्रण में लाया जाता है। वैराग्यवान् साधक मन की एकाग्रता को अनायास ही प्राप्त कर लेता है। किन्तु विषयासक्त प्राणी का मन विषयों में ही रमण करता रहता है। परिणामस्वरूप प्राणी को दुःख और अशान्ति ही मिलती है।

विषयासक्त जीव ही मृत्यु को प्राप्त होता है। वासनायें ही मृत्यु है, वासनाओं का क्षय ही मोक्ष है विषयासक्त जीव को ही विवेक उत्पन्न नहीं होता। विषय-वासनायें कुरङ्ग, मातङ्ग, पतङ्ग, मीन भृङ्गवत् प्राणी को मृत्यु के गाल में डाल देती है। जिस प्रकार हिरण, हाथी, पतंग, मछली और भौंरा क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनमें से एक-एक विषयों के प्रति आसक्ति के कारण अपने प्राणों से हाथ धो बैठते है। फिर वह मनुष्य या जीव जो पाचों विषयों का लोलुप है, मृत्यु का ग्रास कैसे न बने? परन्तु जिसने अपनी निर्मल विवेक तथा वैराग्यरूपी खड्ग से विषयासक्ति मकर को मार दिया है वही निर्विघ्न हुआ संसार समुद्र से पार हो जाता है।

प्रायः आजकल के हम साधकों में दृढ़ एवं स्थायी वैराग्य का अभाव है। हम श्मशानी (क्षणिक) वैरागी हैं। आपत्तियां या दुःख आने पर विरक्त परन्तु उनके चले जाने पर पूर्ववत् अनुरागी! जब वहन करते हुए लोग 'राम नाम सत् है' ऐसा उच्चारण करते हैं। श्मशान में पहुँच कर संसार की असारता को देखकर धिक्-धिक् करते हैं तथा वैराग्यवान् बन जाते हैं, परन्तु घर आते ही वह सब भूल जाते हैं तथा सांसारिक प्रपञ्च में फँसकर सब कुछ भूल जाते हैं। जब तक साधक में देहाभिमान रहता है वैराग्य अपूर्ण व अस्थायी समझना चाहिए।

विषयों का त्याग एवं दृढ़ वैराग्य ही मोक्ष का साधन है, मोक्ष कहीं दूसरी जगह नहीं।

न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले, न भूतले सर्वाशांसक्षये चेतः क्षयो मोक्षः इतीष्यते।

मोक्ष न आकाश में है न पाताल में है और न ही भूतल पर है, सब वासनाओं के क्षय हो जाने पर मन का क्षय ही मोक्ष है। जिसने विषय वासनाओं को त्याग कर मन को जीत लिया है वही सम्राट है। कहा भी है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआ बे परवाह।
जिसको कछू न चाहिए, सो जग शहनशाह॥

जिसको भी वस्तु की चाह नहीं वह बादशाह ही है, ठीक ऐसा ही विचार संत रामदास जी ने व्यक्त किया है—

चाह चूकली रामदास, सब जीवों में जीव,
तू तो केवल बहा था, जो चाह न होती बीच।

पूर्ण वैराग्यवान् संसार में किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता। 'प्रारब्धं भुज्यते वपुः' इस सिद्धान्त को लेकर जो प्रारब्धानुसार समय पर उपलब्ध हो जाये, उसी में संतोष मानता है। भूतकाल का विस्मरण, भविष्य की अचिन्ता और वर्तमान में प्राप्त भोगों में उदासीन ये लक्षण पूर्ण वीतरागी के हैं।

श्री पतंजलि महाराज ने भी अपने योग-दर्शन में अपर और पर-वैराग्य को सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि का हेतु बतलाया है। अपर वैराग्य का फल सम्प्रज्ञात समाधि है। जिसकी सबसे ऊँची भूमिका आत्मा और चित्त की भिन्नता का बोध कराने वाली विवेक ख्याति है, परन्तु यह विवेक ख्याति भी सत्व गुण का परिणाम है। इस गुण से भी परे हो जाना पर-वैराग्य है, इनमें तीनों गुणों का अभाव हो जाता है। जिस प्रकार योगी पञ्च-क्लेशों को नष्ट करके कृतकृत्य हो जाया करता है तथा इसी के निरन्तर अभ्यास से कैवल्य-पद को प्राप्त हो जाता है।

योगयोश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने भी गीता में इसी बात का प्रतिपादन किया है, जैसे—

निर्मानमोहा जित सङ्ग दोषा,
अध्यात्मनित्या विनिवृत्त कामा।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुख-दुःख संज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह विषय-भोगों का विष के समान दूर से ही त्याग कर दें। इसके स्थान पर विवेक, वैराग्य, शम, दम-नियम, दयालुता एवं सरलता का अमृत के समान नित्य सेवन करें।

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

तेनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्व जन्तवः ।
यदते सर्व भूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥

जिस ओज (ब्रह्मवारि) से तृप्त हुए सब प्राणी जीवन धारण करते हैं। उस ओज का अभाव या नाश हो जाने पर जीवों का जीवन नष्ट हो जाता है।

× × ×

यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भ रसाद्रसः ।
संवर्द्धमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा ॥

जो परओज (विशुद्ध) प्रारम्भ के गर्भ का सर्वश्रेष्ठ सार होता है, जो गर्भ के भीतर शुक्र और रज में सारूप्य रहता है। उस परओज के प्रभाव से गर्भ-जीवन का निर्माण होता है। जो गर्भ वृद्धि के समय सर्वप्रथम हृदय से प्रवेश करता है।

भावार्थ—'अतएव ओज रक्षणीय है।

× × ×

समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थइत्यभिधीयते ॥

जिसके देह में वात, पित्त और कफ ये दोष—अग्नि, रस, रक्त आदि धातुयें और धातुओं की मल क्रिया ये सब सम हैं तथा जिसकी आत्मा, मन और इन्द्रियां प्रसन्न हैं, वही पुरुष स्वस्थ कहलाता है।

—सुश्रुत

× × ×

यत्र-यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥

मन जहां-जहां जाय वहीं-वहीं ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए मन को स्थिर करना ही उत्तम धारणा मानी गई है।

—आचार्य शङ्कर

आश्रम-समाचार —

रुद्र महायज्ञ का आरम्भ और समापन

पूर्णाहुति तथा भण्डारा

पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार इस वर्ष भी सबई आश्रम के पावन-प्रांगण में वार्षिक धार्मिक अनुष्ठान और विशाल रुद्र महायज्ञ का समायोजन पूज्य श्री गुरुदेव जी की उपस्थिति में उन्हीं के आदेशानुसार किया गया। ४ अगस्त से १६ सितम्बर तक आश्रम तथा उसका समीपवर्ती क्षेत्र वैदिक ऋचाओं और मन्त्रों से गुञ्जायमान होकर यज्ञ धूम से समूचे वातावरण को सुवासमान बनाता रहा। इस अवधि में श्री गुरुदेव जी अपने एकान्तिक अनुष्ठान में संलग्न रहे। उनके साथ ही दूर-दूर के राज्यों से आये हुए अनेक साधक भाई बहन भी अपने-अपने कक्षों में जो उन्हें आवास के लिए दिये गये थे, अपना अनुष्ठान करते रहे। प्रतिदिन प्रातःकाल ५ बजे सभी श्री प्रभु जी की इस मांगलिक आरती में भाग लेकर जिसे स्वयं श्री सद्गुरुदेव जी कराते थे अपनी-अपनी साधना में रत हो जाते थे। इनके जप और ध्यान का कार्यक्रम निश्चित और निर्धारित समय तक चलता था।

रुद्र महायज्ञ का आरम्भ १५ अगस्त को अग्नि-स्थापन से हुआ। ऋषीकेश के आचार्य श्री महादेव आस्त्री इस महायज्ञ के प्रमुख ऋत्वी थे। आपने श्री जयदेव मकरन्द को ब्रह्मा पद पर आसीन किया था। अन्य पण्डित प्रवर होता, अध्वर्यु आदि के रूपमें यथासीन हुए। अग्नि-संस्थापन अरणि-मन्थन प्रक्रिया से श्री गुरुदेव जी के कर-कमलों द्वारा कराया गया। रुद्राध्यायी का पाठ भी प्रतिदिन विधिवत् होता रहा। सायंकाल ५ बजे से ७ बजे तक शिव-पुराण की सविस्तर उपदेशप्रद कथा आचार्य श्री महादेव जी आस्त्री कहते रहे, जिसे सुनने के लिए बहु संख्यक भाई बहन इकट्ठे होते थे।

पूर्णाहुति और भण्डारा—

१६ सितम्बर को रुद्र महायज्ञ की पूर्णाहुति हुई, जिसमें प्रायः प्रत्येक राज्यों से आये हुए अनेकः भाई बहनों ने भाग लिया। इस दिन श्री गुरुदेव जी महाराज ने भी स्वयं वेद-विसर्जन तथा पूर्णाहुति क्रियाओं को पूर्ण कराने में सश्रद्ध भाग लिया।

इसके पश्चात् इसी दिन इस महायज्ञ के उपलक्ष में एक विशाल भण्डारा तथा ब्रह्मभोज हुआ। इस भण्डारे तथा महायज्ञ के आयोजन में श्री गुरुदेव जी के प्रिय शिष्य भरतपुर निवासी श्री ला० हरजसरलाल जी का सहयोग विशेष उल्लेखनीय रहा। इसके अतिरिक्त जिन साधक भाई-बहनों ने दूर-दूर के प्रान्तों से आकर इस पावन-अनुष्ठान में सम्मिलित होकर अपने श्रद्धामय सहयोग का परिचय दिया, वे सभी श्री गुरुदेव जी के पावन आशीर्वाद के अधिकारी हैं।

Sidhayoga Regd. No. L. Ac. 100

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

भावना और बुद्धि

—अज्ञेय—

'भावना' शब्द के अर्थ का और थोड़ा विचार कर लेना उपयोगी होगा। वैद्यक-शास्त्र में 'भावना' का अर्थ है घोटना, पीसना, घुट पकाना। होम्योपैथी में दवाएं घोटी जाती हैं। मर्दन से उसकी ताकत बढ़ती है, उसका गुण बढ़ता है। इसी तरह बुद्धि को घोटते रहने से उसकी शक्ति सफलकर वही भावना बन जाती है। स्थित-प्रज्ञ की बुद्धि परिष्कृत होती है। अतः उसके जीवन में केवल भावना ही रहती है। उसका जीवन भावना से लबालब भरा रहता है। बुद्धि और भावना में और एक भेद है। बुद्धि केवल दिशा दिखाती है। भावना दिशा भी दिखाती है और काम भी करती है। बुद्धि जब कार्यक्षम और कार्यकारी हो जाती है तब वही भावना बन जाती है। भावना में रूपान्तर करने के लिए बुद्धि को घोटना आवश्यक है। 'सब भूतों में एक ही आत्मा है' यह स्थित प्रज्ञ के लिए तर्क-कर्कश बुद्धि नहीं, बल्कि रक्त-रक्त में व्याप्त भावना हो जाती है। अतः उसे सारे समाज के प्रति वात्सल्य होता है। माता के मन में अपने बच्चे के प्रति जैसा वात्सल्य रहता है वैसा ही स्वाभाविक वात्सल्य उसका होता है। तब उसके द्वारा समाज की सेवा सहज स्वभाव से होने लगती है। यहां यह शंका अनावश्यक है कि स्थित-प्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है तो फिर उसमें भावना के लिए स्थान कैसे रहेगा? क्योंकि हम देख चुके हैं कि स्थिर हुई बुद्धि ही भावना है। स्थित-प्रज्ञ का जीवन बुद्धिमय होता है, इसीलिए वह भावनामय होता है।

—आचार्य विनोबा

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, कचहरी रोड, नागपुर, आवरण-१